आर्चिकदर्शन शास्त्र

परिवर्धित संशोधित संस्करणम्

कीटभृंगार्चिकम्

संगीत स्वर साधन का अत्याधुनिक शास्त्र



पं॰ त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी

आर्चिकदर्शन शास्त्र

परिवर्धितसंशोधित संस्करणम्

कीटभृंगार्चिकम्

संगीतस्वर साधन का अत्याधुनिक शास्त्र

लेखक

पं. त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी

कृपानन्द योगी

ग्राम-लखनेपुर (लक्ष्मणपुर)

पो. घनश्यामपुर-जिला जौनपुर, उ.प्र.

टीकाकार

पं. रामचन्द्र मिश्र

व्याकरणाचार्य (शेखर) ईश्वरी नारायण संस्कृत महाविद्यालय

बदलापुर, जौनपुर

सम्पादक

सतीश प्रकाश तिवारी

एम. ए., संस्कृत, एल. एल. बी., प्रथम वर्ष

पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर

प्रकाशक :

त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी (कृपानन्द योगी)
ग्राम : लखेनपुर (लक्ष्मणपुर)
घनश्यामपुर, जौनपुर

सम्पर्क :

त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी (कृपानन्द योगी)
सेन्चुरी, कालोनी, ५२ चाल
बिल्डिंग क्रमांक ५, रूम नं. ३३ वर्ली
मुंबई ४०००२५

प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ, सन् १९९६

मूल्य : रू. ५०/- (पच्चास मात्र)

मुद्रक :

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा (रथयात्रा-गुरुबाग रोड)
वाराणसी फोन (०५४२) ३२०२९१

मुख्य मंत्री

मंत्रालय, मुंबई ४०० ०३२

दिनांक : ६ अप्रैल, १९९६



महाराष्ट्र

जय महाराष्ट्र,

आप का पत्र तथा उसके साथ भेजी आपकी पुस्तक ''अचार्चिक दर्शन एवम् स्वरापात निवारण स्तोत्रम्'' प्राप्त हुई. इसके लिए मैं आपका शुक्रगुजार हूँ।

आप के लेखन और गायन कार्य के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ। धन्यवाद।

भवदीय

मनोहर जोशी

डॉ. त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी
ग्राम लखनेपूर (लक्ष्मणपुर),
पो. धनश्यामपुर
जिला, जौनपुर,
उत्तर प्रदेश





MEMBER OF PARLIAMENT
(RAJYA SABHA)
06/04/96

मा. त्रिपाठी जी,

प्रणाम,

आप की पुस्तिका ''अचार्चिकदर्शन'' देखने का अवसर मिला। संगीत शास्त्र पर भारतके अतीत के गौरव को आपने स्वर साधना के माध्यम से जनता के सामने लाने का जो प्रयत्न किया है, बड़ा सराहनीय है। भगवान आप को अपने विषय पर और अधिक निष्णात् बनने की शक्ति दें इस भावना के साथ

आपका

वेदप्रकाश गोयल

श्री त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी जी
जौनपुर (उ.प्र.)

समीक्षा सहितशुभकामना के दो शब्द



पहले जब मैंने अचार्चिक दर्शन देखा तो मुझे अचरज इस बात पर हुआ कि इसके पूर्व अचार्चिक शब्द न कभी सुना था न कभी किसीग्रन्थ विशेष में देखा ही था। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुसार अचार्चिक दर्शन शब्द की व्याख्या संस्कृत, व्याकरण व संगीत विद्या विषयक है। संगीत केवल कला ही नहीं वह ब्रह्मविद्यावों में सर्वश्रेष्ठ शास्त्र परक विद्या है। इस प्रकार की नवीन जानकारी से अवगत होकर मैं चिर कालिक प्रसन्नता में निमग्न हो उठा। संगीत के स्वर ही सृष्टि में व्याप्त हैं, और स्वरों की अभिव्यक्ति में सूर्य चन्द्र, पृथ्वी, जल तत्व, अग्नि, वायु आकाश ही अनुरणित होकर मनुष्य के मुख से प्रकट होते हैं। मानव शरीर इन्हीं की अभिव्यक्ति के लिये स्थूल व सूक्ष्म रूप में यन्त्र स्वरूप

हैं। ज्ञान और सत्साहित्य की स्थिति में यही कार्य कर्ता भी हैं। इस प्रकार का ज्ञान क्या कभी भटकाने का कारण बन सकता है? अचार्चिक दर्शन शास्त्रं मनुष्य जीवन के लिये कितना सार्थक, कितना साहसिक, कितना भ्रम भय नाशक और कितना उपयोगी हो सकता है? आखरों में व्यक्त करना कठिन ही है।

फिर भी सहानुभूति के रूप में रचनाकार द्वारा की गई स्वर स्तुति में सहभागी बनकर दो शब्द कहूँ। परन्तु कहूँ क्या जहाँ कि स्वरों की स्तुति की गई है। वहीं मैं भी अपनी स्तुति ही प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अचार्चिक दर्शन स्वरों के माध्यम से अध्यात्म विद्या का प्रमुख श्रोत अन्ततः सिद्ध ही हो चुका है। आश्चर्य इसी पर हुआ कि नाचने गाने वाली चीज से भला यह रचनाकार उस दुदर्श भूमि में कैसे प्रवेश कर गया? जिस गुह्यतम राजविद्या की व्याख्या-दर्शन में गीता वेदान्त, न्याय, व्याकरणं शास्त्र सतत चल ही रहे हैं। रचनाकार भला उसमें स्वरों के जप से प्रवेश कर गया? इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है? वैखरी से ध्वनित होने वाले ये नवीन श्लोक निश्कंटक रूपसे कैसे निकाले गये होंगे। और वह भी इस युग में? भाषा दुश्काल में?

अस्तु रचना शैली में कहीं कोई दोष नहीं, शिखरिणी के ९२ श्लोक पंडित राज जगन्नाथ की स्मृति दिला रहें हैं। रचना वेजोड़ है। रचनाकार के इस अमृतवत् प्रयास के लिये

मेरी शुभकामना सहित पूर्ण सहयोग अपेक्षित है। आजका बदहवास भटका हुआ मनुष्य संगीत विद्या को व्यवसाय का रूप देकर टुकड़ों पर चलने वाली वस्तु बनाने के कारण भ्रष्ट हो गया है। रचनाकार वस्तुस्थिति का अध्ययन करके आहत नाद की उपासन को अपना सर्वश्रेष्ठ संदर्भ मानकर संगीत एक विद्या है उसको उबारने वाली ही उसी की यह एक क्रान्ति है। रचनाकार उससे व्यथित होकर जन जागृति करने में सफल हो। उसके कदम सदा ही अडिग रूप से बढ़ते रहें। यही मेरी शुभकामना है।

वैसे संगीत काअल्प ज्ञान मुझे है, अभिनय क्षेत्र के अभिमञ्चन काल में पूना इन्स्टीट्यूट में संगीत के स्वरोंको लगाता रहा। उसका अभ्यास करता रहा। फिल्म अभिमञ्चन की व्यवस्तता के कारण भी लालसा बनी है। अचार्चिक दर्शन स्वयम् ही चलकर जब मुझ तक पहुँच ही गया है तो अवश्यही मुझे सुमति प्रदान करके संगीत के स्वरों को कण्ठस्थ करने के लिए अवसर प्रदान करेगा। मैं इस रचना को पढ़कर अपने को कृत्यकृत्य पा रहा हूँ। त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी (कृपानन्द योगी) को शास्त्र रचना माध्यम से जन जागृति सम्बन्धी सफल प्रयास के लिये मैं महाभारत के गंगापुत्र भीष्मपितामह की तरफ से यही कह सकता हूँ कि ''विजयी भवं''

मुकेश खन्ना

३, परिजात

९५, मैररिन ड्राईव

मुंबई - ४००००२



संगीत के अन्य पहलुओं पर काफी कुछ। काम हुआ है; किन्तु स्वर-साधना-पद्धति' प्रायः अछूती रही। इस दिशा में 'अचार्चिक दर्शन' एक क्रांति है। व्यवसायिकता से परे उपासना मूल्यों का पुनरस्थापन सही मायने में एक क्रांति है। संबद्ध विषय पर आमूलंचूल विचार हुआ है अतः अचार्चिक दर्शन अपने में एक पूर्ण ग्रन्थ है। संस्कृत में रचित होने के कारण ग्रन्थ अतिरिक्त मूल्यवान हो गया है। यदि वर्तमान शताब्दी के अतीत पर दृष्टिपात करें तो संस्कृत में वह भी संगीत पर प्रकाशनोंकी संख्या न के बराबर है। कंठ देश केअवरोधों का उन्मूलन ग्रन्थ का मूलभूत उद्देश्य है, जिसमें लेखक सफल हुआ है।

ग्रन्थ में जो कुछ है वह नितान्त नया है– चाहे चिंतन के धरातल की बात हो या दृष्टिकोण की....। धारदार शैली में भ्रान्तियों का खंडन है तो परंपराओं का मंडन भी। अच् के अंतर्गत जिन स्वरों का समावेश है, उनके लिए ग्रन्थकार ने 'नवाच्' शब्द का प्रयोग किया है। इन नव अचों की कंठ

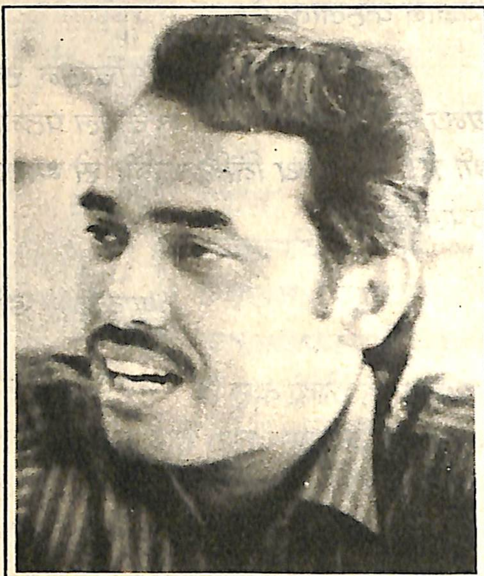
देश में जो योजना है, वही लेखक का विज्ञान है। विज्ञान इस अर्थ में कि वस्तु को जान लेना ज्ञान है, लेकिन उसका प्रयोग विज्ञान कहलाता है।

पं. त्रिपाठी का समग्र चिन्तन स्फुट है, पारदर्शी है। ग्रन्थ में पिरोयी सामग्री न केवल पठनीय है अपितु पचनीय भी है। यह ग्रन्थ निश्चित रूप से भारतीय संगीत की एक उपलब्धि है।

गायक– **डॉ. श्यामरंग शुक्ल**

आलोक भट्टाचार्य

१८, अंबिका निवास, दूसरी गली-पांडुरंगवाडी, डोंबिवली (पूर्व) - ४२१ २०१

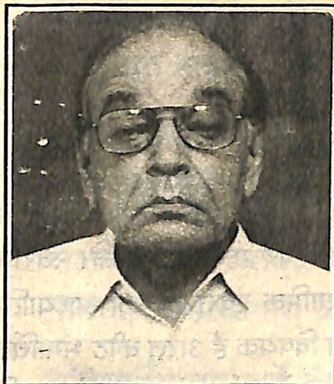


पं. त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी की पुस्तक 'अचार्चिक दर्शन एवं स्वरापात निवारण स्तोत्रम्' मैंने देखी। इस गंभीर विषय पर पं. त्रिपाठी जैसा ही कोई संगीत शास्त्री एवं गहन अध्येता कलम चला सकता है। पुस्तक संगीत के गंभीर साधकों छात्रों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी है।

अब पंडित त्रिपाठी जी की नयी पुस्तक 'परिवर्द्धित संस्करणः कीट भृंगार्चिकम्' प्रकाशित हो रही है। शास्त्रीय संगीत जगत के लिए यह पुस्तक भी अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी।

पं. त्रिपाठी के लिए मेरी अनंत शुभकामनाएँ।

आलोक भट्टाचार्य



आचार्चिक दर्शन के रचनाकार त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी को मैं बहुत निकट से जानता हूँ क्योंकि मेरी पुत्री देविकाकपूर को वे शास्त्रीय संगीत का मार्ग दर्शन कर रहे है। परन्तु यह जानकरमुझे बड़ी प्रसन्नता इस बात पर हुयी कि त्रिपाठी जी केवल एक गायक ही नहीं संगीत जगत में एक उदीयमान नायक हैं। वह भी संस्कृत भाषा के।

उनकी रचना देखी परन्तु बहुतही कठिन है स्वरों की साहित्यिक परिभाषा साधक के लिये अवश्य ही लाभदायी है। अस्तु रचना की समृद्धता के लिये अपनी हार्दिक शुभकामना दे रहा हूँ।

धन्यवाद,

रवी कपूर

स्तुति प्रकरणम्

संगीतोपयोगी शुद्ध स्वर एवम् विकृत को ही संस्कृत भाषा में स्वरान्तर नाम से जाना जाता है। गुण दोष के आधार पर गायन व साधन स्वरान्तर नाम से ही प्रयुक्त है।–आर्चिक, गाथिक, सामिक स्वरान्तर का आध्यात्मिक स्वरूप है जो तप के साथ अमृत स्वरूप ज्ञान विषयक है अस्तु कीट भृंगार्चिकम् नामक इस ग्रन्थ में व्याख्या सहित स्तुति रूप में सर्व प्रथम इसी को प्रकाशित किया जा रहा है।

स्वरान्तर पद्धतिः

तुर्यस्वर समायोगात्जायते तत्स्वरान्तरम्।
प्रायुङ्क्त ऋषिभिः पूर्वम् वेदेमन्त्रकदम्बसु।।१।।

सर्वयुगानाम् संगीते प्रभावः दृश्यते सदा।
कलावपि सतोयोगः कलेर्योगः कृते युगे।।२।।

द्रष्टुम् युगप्रभावम् तम् पृथक् साधन पद्धतिः।
आर्चिकादि समाभ्यासात् कण्ठे भवति कोमलः।।३।।

कणमुरकमीडञ्च गमकम् ललकम् तथा।
जोड़म् बलमलंकारम् जायन्ते कण्ठ कोमले।।४।।

एषाम् रागप्रसारेणु प्रस्फुरन्त्यखिला क्रियाः।
एतासामेव योगेन संसिध्यति सर्वांगता।।५।।

मीडादिक्रमयोगेषु स्वरसम्वाद दर्शनम्।
कर्कशता भवेतत्र यत्र तेषामभावता।।६।।

प्राचीन पद्धतौ सर्वेऽपूपुजन्नग्रजानस्वकान्।
नवीनाश्चार्चिकान् सर्वान् त्यज्यन्ति तुर्यसेवकाः।।७।।

राजनैतिकाक्षेपातद्द्वयेष्यात् कामादि कारणात्।
नानादोषसमायोगात् कालकुक्षि गतोविधिः।।८।।

अविद्याधिगताः सर्वे वैसुर्विद्याम् स्वगीतके।
ऋचादौ तदभावाच्च नैव सिद्धि समाप्नुते।।९।।

ब्रह्मणः सेवकाः ये च तामाविद्या न व्याप्यते।
हरिणा प्रेरिता विद्या प्रभवति गो गोपकान्।।१०।।

अतो दोषोपशयान्त्यर्थम् तुर्य मार्गम् यथाविधिः।
लभेरन्नग्रजैः साकम् यतो न न्यूनता भवेत्।।११।।

कण्ठेविभूतिसिध्यर्थम् कर्त्तव्यम् तस्य शोधनम्।
तत्त्यागे योग्यताऩ्नैव प्राप्तुमर्हन्ति साधकाः।।१२।।



कृपानन्द भक्ति सूत्रम्

"जाग्रदस्वप्नदेशे निरोधोपपत्तिः"

अथ "आत्मयोगानुशासनम्" इति महायोगानुशासनम्"

१. आत्मयोगस्तु निरोधः अविद्या क्लेश विकारादि दोषाणाम्।

२. स क्वचित् घटे प्रकाशते।

३. राजविद्या पंचभूमयः।

४. आनंद निरोध संहार सृजन ज्ञानानि भूमयः।

५. ता संयुक्ताः आत्मनः।

६. प्रमेयो आत्मबलं।

७. प्रमेय बलं प्रकाशते क्वापि पात्रे आत्मवत्।

८. यत्र प्रकाशते आत्मनि स एव निरोध कारणे दृढभूमिः।

९. तपः स्वाध्यायात् फलमिति कथनं तु अयथार्थमेव।

१०. क्रियायोगे नैव फल निष्पत्तिः।

११. समर्पणात् आत्मनिवेदनं सदैव स्मर्तव्यं इति मे मतिः।

१२. विक्रीताः पशवइव समर्पणयोगः।

१३. प्रकाशते आत्मनि क्वापि पात्रे।

१४. आत्मरतिरेव क्रियात्मकोपक्ष क्षात्मनः।

१५. आत्मरतिः प्रकाशेत् इति शान्डिल्यः।

१६. आश्चर्यवत् प्रकाशते प्रमेयः।

१७. लेशाविद्या कारणात् नारदस्य परम व्याकुलतेति।

१८. ब्रह्मात्मैक्यबोधेन मोक्षः सिध्यति एत् देव आत्मनिवेदनम्।

१९. आत्मनिवेदनं विरोधेनेति इति कृपानंदः।

२०. आत्मरतिः योगः निरोधस्तु चित्तवृत्तेः।

२१. आत्मरतिः राजयोगः कारणात् अकृत्रिमानंदस्य कारणम्।

२२. निरोधस्तु कामक्रोधादि षड विकारात्।

२३. स निरोधः न क्रियायोगेन लभ्यः नैव सांख्यादि दर्शनेन् लभ्यः।

२४. ज्ञानावलंवनं न यथार्थ युक्तिवादः।

२५. सः तु आत्मप्रकाशोऽपि कदाचित् कुत्रचिदेवघटे एव प्रकाशते।

२६. मतेः लयात् प्रकाशते मतः।

२७. न समूहे भवति प्रदर्शनं राजविद्यायाः गुह्यत्वात्।

२८. आत्मरतिः स्वचालित् क्रिया पक्षः।

२९. स एव स्फुरणमात्मनि राजविद्यायाः।

३०. पंच भूमयः परमात्मनो ऐश्वर्यम्।

३१. परमात्मैश्वर्यम् संयुक्तम् साक्षिणा आत्मना।

३२. पंचभूमयः प्रकाशन्ते कृपानंदे।

३३. विषयाक्षिप्त मनाः करोति निग्रह आत्मरतिः।

३४. क्रियात्मक पक्षः निरोधस्तु संस्कारात् सर्वं लोकवेदव्यापारः।

३५. प्रकृतिलयात् विदेह संप्राप्तिः विद्यते तत्र कैवल्यम् शिवम्।

३६. भय दर्शनात् विराट् शिवतत्व बोधः।

३७. तस्यहेतुरविद्या।

३८. दहति विकारान्।

३९. स्तब्धो भवति क्रियात्मक पक्षः।

४०. प्रकाश्यति स्वचालितासने आत्मनात्मैव।

४१. अच्युतानाहतेनादे श्रूयते प्रकृतिलयात् विदेह संप्राप्तिः।

४२. सारूप्य ज्ञाने प्रवेश एव स्थितिः परमहंसस्य।

४३. यदेव सारूप्य ज्ञानानंतरमात्मना स्फुरितं सूत्रम् तदेव कृपानंदस्य भक्ति दर्शनम्।

४४. अनुभव स्वरूपं आत्मनिवेदनं।

४५. अनंगविकार निरोधस्तु आत्मनः।

४६. व्यष्टि भावनानाम् समष्टिलयः अस्यामेव भूमौ परमहंस स्थिति संप्राप्तिः।

४७. प्रमाण प्रमातावलं न रोधयति न सिध्यति एतदेव प्रमेयवलं।

४८. साक्षी भूमिः विज्ञानमयः।

४९. प्रमाण प्रमतावलं अध्यारोपः न प्रमेयं।

५०. यत्र प्रकाशते आत्मनि अन्तःकरण चतुष्टौ स्तब्धो भवति तदैव सिध्यति वैराग्यं।

५१. काल्पनिकागमं न युक्तम् न स्वयंसिद्धं न जानाति स्वर्गभूमिम्।

५२. आत्मनः स्वर्गभूमिः स्वयंसिद्धः।

५३. आगम युक्तिः सिध्यति मात्र प्रमाण वृत्तेः।

५४. स्वयं सिद्धः योगिराट् आत्मा सिद्धो भवति सारूप्ये।

५५. क्रियायोगलयानंतरम् कांचिदपिक्रियां कर्तुम् न शक्यते योगी। सृजनात्मिका सत्तेः परमात्मनैव सिध्दत्वात्।



भूमिका

कीट भृंगार्चिकम नामक ग्रन्थ की रचना वास्तव में संगीत जगत में एक क्रान्ति है। यह क्रान्ति शुद्ध स्वर साधन व गहन स्वर सृष्टि चिन्तन से जुड़ी हुई है। संगीत का व्यवसायिक पक्ष देख कर, उसमें तमाम भेदभाव देखकर अन्तःकरण में कुछ प्रश्नों का जन्म हुआ, जो इस प्रकार से हैं। क्या संगीत के स्वरों व तालबद्ध लय और मात्राओं का कुछ पुरुषार्थ जन्य एकत्व प्रधान दर्शनीय और वाचनीय भूमिका है? या टुकड़ों पर बेचने खाने वाली संगीत आजीविका की केवल सामग्री मात्र है? या परमार्थकारी भी है? इसी प्रश्न ने कीट भृंगार्चिकम् का शाब्दिक सस्वर अनुरणन का एक आन्दोलन नाभि देश से लेकर सम्पूर्ण मुखदेश को स्पर्श करता हुआ संस्कृत भाषा में मुखरित और लिपिबद्ध हो गया।

संगीत शास्त्र का उद्भव और देवासुर संग्राम

संस्कृति- अर्थात् नित्य चैतन्य और संयमित कृति जिसका दूसरा नाम प्रकृति है और जो पञ्चीकृत संयुक्त है। उसी संयुक्त कृति को संस्कृति कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर की कृति ही संयमित है जो सूर्य, चन्द्रादि के रूप में पंचीकृत जड़ चेतन चराचर सब में विद्यमान और व्याप्त है।

संस्कृति शब्द की व्याख्या को समझने के लिये सनातन के साथ होना पड़ेगा। अकार, ईकार, ऊकार, ऋकार लृकार, एकार, ऐकार, ओकार, औकार, मकार, नकार इत्यादि किसी भी व्याख्या में प्रयुक्त होते हैं। बिना इनके योग से वर्णों का अर्थ व्यापक नहीं बनता। इस प्रकार स्वर और वर्ण ये सभी सनातन ही हैं। रावण, कंस, जरासंध, कालयवन, शुम्भ, निशुम्भ जैसे भ्रमित बलवानों के व्यवहार में भी ये आते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि जो कोई साधक संस्कृति को समझने के निमित्त संयमित हुआ वह

निश्चय ही राम और कृष्ण के संग हो गया और उनका उपासक बन गया– जैसे विभीषण और अर्जुन। इसके अतिरिक्त जो पूर्ण मानव नहीं बन पाया वह दानव ही होता है। दानव वही होता है, जो सनातन को समझने की चेष्टा नहीं करता। वास्तव में सनातन को समझना ही संस्कृति का ज्ञान है। ज्ञान एक परिवर्तन है। देह का कायाकल्प है। सनातन को जानने की चेष्टा में बोली भाषा, व्यवहार, रक्त, वीर्य, मज्ज, त्वचा, अष्टधातुओं तक सभी शुद्ध हो जाती हैं और हो जाते हैं।

स्वर साधन ही इसका मूल श्रोत है। जिसके अभ्यास से रवा वृत सभी दोष विकार पुञ्ज दूर हो जाते हैं। संस्कृति का सदुपयोग मानव ही करता है। दुरुपयोग तो भ्रमित दानव करते हैं। संस्कृति के सृष्टि सम्बन्धी तत्त्व आकाश, वायु, अग्नि, आप्त (जल) पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र समष्टि में संयम पूर्वक अपना कार्य करते हैं। और (व्यष्टि) देह में भी अपना कार्य करते हैं। किन्तु देह में अनुकूलता और प्रतिकूलता का आभास ग्रह नक्षत्रों की होती है। यह मान लिया गया है। किसी देश को हड़पना दानवी वृत्ति कहलाती है। इस प्रकार की वृत्ति भ्रमसूचक भेद,भाव, द्वैतबद्ध होती है। यह दानवी वृत्ति है। दानव यह नहीं जान पाता कि सम्पूर्ण विश्व के तत्त्व ईश्वर विरचित हैं और वह भी उन्हीं में से है।

मुखांग

मुखांगी विद्या ही अमृततत्त्व प्रबोध का मूल श्रोत है। मुख की शुद्धि स्वर साधन से ही होती है। स्वर साधन की सिद्धि में कोई भी साधक झूठ नहीं बोल सकता। और विश्वासघात भी नहीं करता।

मुख देश में कई देश होते हैं। इसी मुखदेश से संगीत विद्या और कला की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त मानव शरीर भी कला ही है, यही ईश्वर की पञ्चीकृत समष्टि की कला है। जो संगीतविद्या भी है और कला भी है। इस प्रकार से संगीत कला की अभिव्यक्ति मुखदेश, हाथ, पाँव तीनों

से सम्बन्धित है। जिसकी अभिव्यक्ति में हाथ ही चलते हैं, उन्हें वाद्य यन्त्र कहा जाता है जैसे पखवाज, तबला, सितार, वीणा, तानपूरा इत्यादि। उसी प्रकार नृत्य कला का श्रोत एवम् अभिव्यक्ति कर्ता पाँव होता है, पाँव की थिरकन, आन्दोलन ही कला है। जो लय मात्रा, तालबद्ध है। इसी को नृत्य कला कहते हैं। किन्तु पाँव में वैखरी का अभाव होता है इसलिये पाँव की वैखरी श्रोत उसका घुंघरू होता है जो षडांगी नहीं केवल रवात्मक और एकांगी होता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि पद प्रधान नृत्य कला की प्रस्तुति और अभ्यास में बहुदेशीय वैखरी का अभाव होने के कारण कण्ठ देश की शुद्धि और उसे सस्वर बनाने और जानने व लीन होने में वह सक्षम नहीं है। उसी प्रकार हस्तकला से युक्त हाथ की अंगुलियों में भी वैखरी का अभाव होता है चूँकि वैखरी देश का सम्बन्ध परा, पश्यन्ती, मध्यमा और तव वैखरी से है इसलिये वैखरी देश का संबंध केवल कला से ही नहीं वरन विद्या गत है। इस प्रकार विद्या ही निश्कल गामी होती है चूँकि विद्या ही मनुष्य को कामवासना मुक्त करती है इसलिये विद्या ही ज्ञान गर्भ की मूलभूमि है।

पाँव की थपथपाहट में और अँगुलियों के चलन में स्वर और शब्दों, पदों, बोलों का केवल आरोप किया गया है। जैसे "धा तेट धा तेट धा धा तेट धा धा तीना तेट"। इत्यादि यह केवल मुख देश से बोला जाता है। एक देशीय तबला वाद्य पर मात्रा और ताल माध्यम से अंगुलियाँ चलाई जाती हैं। तबला वाद्य में नाद का आरोहावरोहण नहीं होता। दाहिना बायाँ दोनो के आघात ऊर्ध्वगामी होते हैं। केवल पखवाज, सितार, वीणा वाद्यों पर ही आरोहावहोरण क्रम चलता है क्योंकि इन वाद्यों का खण्ड नहीं होता। ये अखण्ड वाद्य हैं।

अस्तु इस व्याख्या में हाथ और पाँव कला सूचक हैं और स्वर साधन गायन प्रधान मुखदेश ही ब्रह्मविद्या गत ज्ञान गर्भ भूमि में प्रवेश कराने वाला प्रमुख श्रोत सस्वर उपासना का श्रोत है। कला और विद्या की एकता संबंधी ज्ञान में कलाभिव्यक्ति का अहंभाव निश्चय समाप्त हो जाता है। इसी पर एक श्लोक है जो मात्रिकं और सस्वर है।

आत्मा विनिश्कलो ह्योको देहो बहुभिरावृतः।
तयोरैक्यं क प्रपश्यन्ति किमज्ञामतः परम्।।

अस्तु– मुखदेश में सस्वर नाद वर्ण, शब्द, लय, मात्रा सबकी प्रस्तुति अभिव्यक्ति श्रोतव्य होती है। इस प्रकार संगीत कला नाम केवल प्रस्तुति है। और संगीत विद्या नाम एक महत् चिन्तन स्वाध्याय ब्रह्मविद्या परक सस्वर साधन युक्त मुक्ति विषयक ज्ञान की गर्भ भूमि है।

कला और विद्या इसी देह से संबंधित है। यदि यह कहा जाय की संगीत केवल कला ही है। यह कत्तई भ्रमात्मक है। कला केवल प्रस्तुति ही तक सीमित है। प्रस्तुति केवल मनोरञ्जन का ही विषय है। चूँकि मन विषयी व विद्या प्रेमी दोनों ही होता है इसलिये संगीत केवल कला ही नहीं है। मञ्चन शब्द कला संबोध्य है। अभिमञ्चन में नर्तन, गायन, वादन तीनों ही आते हैं। गायन में रागाभिव्यक्ति का अभिमञ्चन व उसकी लिप्सा कला नाम में है। परन्तु शुद्ध स्वर साधन का अभिमञ्चन नहीं होता। यही साधन कला से पृथक अध्यात्म विद्या की गर्भ भूमि का श्रोत है। जिसके ज्ञान से कला और सृष्टि का सामंजस्य उपस्थित होता है। अस्तु शुद्ध स्वर साधन मनोरञ्जन का विषय नहीं वरन् मनोनिरोध का विषय है। ब्रह्म विद्या नाम में केवल शुद्ध स्वर साधन ही गम्य है। अभिमञ्चित वृत्ति का गम्य सम्भव नहीं। कला की अभिव्यक्ति आयु एवम् काल के अधीन होती है। विद्या अकाल होती है। विद्या नवदेशीय अष्टांगी होती है। स्वराभिव्यक्ति में नाभिबल, वक्ष प्रदेश बल की प्रधानता अष्टांग धामों में प्रमुख है। स्वर और शब्दाभिव्यक्ति का श्रोत मुखांग होता है। हाथ और पाँव नवदेशीय अष्टांग के पूरक नहीं बन सकते। हाथ और पाँव कर्मेन्द्रिय हैं। परन्तु हाथ की ज्ञानेन्द्रिय सम्पूर्ण शरीर की त्वचा है। यदि कोई मच्छर देह भर में कहीं भी काटता है तो इतनी तीव्र गति से हाथ वहाँ पहुँच जाता है जिसमें किसी प्रकार का कोई सोच विचार ही नहीं होता। उसी प्रकार पाँव की ज्ञानेन्द्रिय नेत्र है। आँख जब देखती है तभी पाँव उठता है।

यदि मुख देशीय षडांग क्षति ग्रस्त हो जाता है या रूग्ण विकृत हो जाता है तो उसकी शल्य चिकित्सा केवल अचदेशीय सस्वर अर्चना ही होती है।

संगीत विद्या और संगीत नाम का शास्त्र उसकी औषधि है जिसका योग क्षेम शुद्ध स्वर साधन के साथ कीट भृंगार्चिकम् का स्वरानुगुञ्जनम् सञ्जीवनी के समान है। संगीत विद्या मृत्युवादी सामग्री नहीं है न वह कटुता व दुःख, द्वन्द्व, भ्रम, भय, भेद-भाव, पक्षपात सम्बन्धी सामग्री ही है।

शुद्ध स्वर साधन की परिपक्वता में भेद भाव, पक्षपात, कटुता, दुःख, द्वेष, द्वन्द्व, भ्रम, भय सब भाग जाते हैं। इस प्रकार उपरोक्त आगन्तुकों का रैन बसेरा समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् ही गुरुत्व का सुपाच्य प्रवेश हो जाने के कारण शुद्ध स्वर साधन का अमृत प्रसाद स्वर वेत्ता को प्राप्त हो जाता है। फिर वह कलाकार और गायक नहीं रह जाता। वह विद्या प्रेमी विद्वान हो जाता है। उसके मुखमण्डल की सारी कालिमा तिरोहित हो जाती है। महामाया का सारा भ्रमजाल सस्वर जप प्रभाव से भस्म हो जाने के कारण सृष्टि और आत्मा, प्रस्तुति और प्रस्तोता अभिन्न रूप से "आत्मा रामो भवति", मत्तो भवति" और स्तब्धो भवति", अस्तु इस प्रकार वह सस्वर साधक परादेश में पहुँचकर मौन रूप से पर्यावरण को शुद्ध करता रहता है और सभी दोषों को कर्षित करके पचाता रहता है। जो भी जिज्ञासु उस महात्मा की शरण में पहुँच जाता है वह निश्चय ही मनोवांछित वरदान को प्राप्त कर लेता है।

मञ्च प्रदर्शन का अवसान और देवासुर संग्राम

स्वराभिव्यक्ति में देवधामों का दर्शन– जब यह अवभाषित होने लगता है कि नव देशीय अच ही स्वर रूप में अभिव्यञ्जित होते हैं और वे शुद्ध स्वर साधन के ठहराव पक्ष में उसी में विलीन हो जाते हैं। ज्ञेय पद और ताल व सभी वाद्य नाद ब्रह्म की परिक्रमा करते हैं तो इस प्रकार के ज्ञान से शनैः शनैः मञ्च प्रदर्शन वाली प्रवृत्ति बाधित होने लगती है। उसके इस प्रकार से बाधित होने वाली प्रवृत्ति का तात्पर्य यह होता है कि स्वराभिव्यक्ति में अनुरणित होने वाले अवगठित सभी यन्त्र देश विश्राम वाली स्थिति में हो जाते हैं। नव देशीय अच देशों के योग जन्य कार्यक्रम की अवधि एक प्रकार से पूरी हो जाती है। वास्तव में शुद्ध स्वर साधन देवासुर संग्राम ही है। हम इसे

आज तक नहीं समझ पाये। जो कुवचन, कुखाद्य सेवन, कुपेय सबंधी प्रवृत्ति से कलाकार व्यसनाधीन हो जाता है। यही असुरों का देवधामों पर दबाव और उनका शासन है। और इसी प्रवृत्ति के कारण व्यास पीठ को मञ्च और मञ्च से महफिल नाम देकर गिलासों का टकराव शुरू हो गया। श्रेष्ठ उपास्य विद्या की गौरव गरिमा गिलासों की ठकठकाहट में भला कैसे अवदर्शित हो सकती है। इस प्रकार के दुर्व्यसन का आगमन जब से भारत में संगीत विद्या के क्षेत्र में शुरू हुआ। तभी से अमृत स्वरूप साधनविधि और उसकी शास्त्रीयता से कलाकार पृथक होता चला गया। देश में अन्धकार का वातावरण चतुर्दिक फैल गया।

शास्त्रों पर स्वर च्युत कलाकार धीरे धीरे उसकी धर्मिता को नष्ट भ्रष्ट करने लगे। संगीत के ग्रन्थ जला दिये गये। विद्यावाचस्पति जैसे धुरन्धर विद्वान कन्दराओं की शरण में जाकर छिप गये। परन्तु इस संगीत विद्या का कोई कुछ बिगाड़ न सका; क्योंकि विद्या अवतरित होने वाली पवित्र सामग्री है। यह देवी देवताओं की उपास्य ब्रह्म विद्या है। क्योंकि संगीत विद्या निष्कल है–निष्कल अजर अमर होता है। निष्कल नाद बिन्दु परम पिता परमेश्वर ही तो है। भला परमेश्वर से कौन जीत सकता है। ज्ञान स्वरूप परमात्मा से उसका ज्ञान कौन छीन सकता है। अकारो वासुदेवः स्यात् अर्थात् अकार ही कृष्ण है। जो माखन खाता है। माखन कितना सात्विक और पवित्र ऊर्जाप्रधान होता है। वही कृष्ण विद्या वाचस्पति है। और हर एक देहों में आत्मा रूप से विद्यमान भी है। विद्या का प्रचार प्रसार करना, उसके प्रति जिज्ञासु बनना, फलित होने वाली साधन सामग्री को प्रकट करना यह सब कृष्ण ही करता है। कृष्ण की लीला बड़ी विचित्र है। कृष्ण विद्या का विस्तार करता है अघ जन्य दुष्प्रवृत्तियों को कर्षित करके वही स्वयं पचाता भी है।

इस प्रकार विद्या और संस्कृति कला को क्षति पहुँचाने वाले असुर होते हैं। जो बेसुर होते हैं, जो चीख चिल्लाकर हाथ पाँव पटक कर कण्ठ जगत को क्षति ग्रस्त ही करते रहते हैं जहाँ पर शास्त्रीयता नामक शैली रहती ही

नहीं। जो वाणी वचन की अभिव्यक्ति में अनुशासित नहीं होते जो अनियन्त्रित होते हैं वे सभी व्यवसायिक रूप से आज दूरदर्शन जैसे प्रसाधनों द्वारा धारावाहिकों में देखे सुने जा रहे हैं।

वास्तव में जिसमे स्वर साधन का संयम नहीं है न तानपूरा जैसा संयमित वाद्य की संगति ही है वे ही असुर और बेसुर होते हैं। हारमोनियम, सितार व वीणा स्वतन्त्र वादन का वाद्य है। वह शुद्ध स्वर साधन का वाद्य नहीं होता। शुद्ध स्वर साधन के लिये केवल एक वाद्य है। वह है तानपूरा जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा से लेकर मूर्धा देश तक एकाकार की स्थापना करने में सक्षम है और प्रत्येक धामों से लेकर पूर्ण कण्ठ देशीय अवरोधों, तनावों और हर प्रकार के अधिभारों से मुक्त कराने में सर्वोपरि स्तुति योग्य वाद्य है। इस प्रकार से स्वर नियन्त्रण की सस्वर साधन सामग्री व उपयुक्त वाद्य दोनों की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार वाणी वचन की शुद्धि और नियन्त्रण के लिये वाक् शास्त्र है। जिसको व्याकरण शास्त्र कहते हैं। परन्तु वाक् शास्त्र को सस्वर बनाने वाला शास्त्र संगीत शास्त्र ही होता है जो ज्ञेय भी है और योगिगम्य साध्य भी है। इस प्रकार शुद्ध स्वर साधन से ही कण्ठ जगत की परुषता अर्थात् कठोरता, कुटिलता सभी समाप्त होकर नियन्त्रित हो जाती है। परुष वचन ही असुरों की भाषा होती है। स्वर वेत्ताओं की नहीं। स्वर वेत्ता सदा ही सच, मधुर, सद्ग्राह्य और सुपाच्य वचन का ही प्रयोग करते आये हैं। सुपाच्य वचन का ही दूसरा नाम शास्त्र होता है। शास्त्र और अन्य कुछ नहीं वह भगवत् प्रेषित वाणी व साधन योग्य सस्वर सामग्री है।

इस प्रकार से जहाँ जरासंध और कालयवन होगा। वहाँ संगीत होगा ही नहीं। दुःसंगति में संगीत की गति नहीं होती। संगीत अमृत पद गामी है। उसके उपासक निर्भय होते हैं उनका रक्षा कवच स्वयम परमात्मा होता है। वे महाजन टुकड़ों पर कला प्रदर्शन नहीं करते। वे कालयवन को नहीं डरते।

वे महाराजा मुचकुन्द की भाँति स्वयं सक्षम होते है। और उनमें सभी स्वर धाम से लेकर सभी इन्द्रियों में समष्टि की शक्ति ऐक्षिक होती है। क्षण मात्र में एक कालयवन नहीं सैकड़ों स्थपञ्जर में हो सकते हैं। चाहे वह

नाशिका हो, या कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्तोष्ठ इत्यादि हो। कहीं से भी अग्नि की ज्वाला दुष्टों के दमन के लिये पर्याप्त होती है। संगीत यह शस्त्र विद्या नहीं शास्त्र की विद्या है। शास्त्र विद्या का भण्डार हमारा व्याकरण शास्त्र, संगीत का सस्वर शास्त्र, वैदिक मन्त्र, न्याय वेदान्त सभी संयमित भाषा बद्ध रूप में और एक संस्कृत भाषा में आज भी विद्यमान हैं। जिनका मूल देव केवल एक है वह है परम पवित्र अमृत मय ब्रह्माक्षर नाद बिन्दु। यही नाद बिन्दु सगुण रूप में सबका अपना कृष्ण और राम है।

अब यह प्रश्न बनना स्वाभाविक ही है कि इस कथा प्रसंग से संगीत शास्त्र से क्या संबंध हो सकता है। इस कथा प्रसंग का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि जब भुजबलियों के सभी शरीरस्थ यन्त्र, स्नायु, अंग, प्रत्यंग, शिथिल होकर ढीले पड़ जाते हैं क्योंकि भुजबलियों का अभ्यास रण भूमि का निमित्त होता है। शस्त्र विद्या का अभ्यास स्वदेश और स्वयं की रक्षा का निमित्त होता है। इस अभ्यास में उपरामता का मुख्य कारण शरीरस्थ यन्त्र ही होते हैं। जिस प्रकार से अर्जुन रणभूमि में गाण्डीव को रख दिया। उसका कारण स्वजनों में आत्मैक्य भाव की जागृति थी। न कि अर्जुन का कायरपन था। इसी प्रकार से विद्या अभ्यास प्रसंग या प्रयोग अभिमञ्चन में कभी भी आध्यात्मिक जागृति का अवसर आना स्वाभाविक है। और जब ऐसी जागृति का उदय हो जाता है तो प्रयोगात्मक देहस्थ यन्त्र शिथिल पड़ ही जाते हैं।

इसी प्रकार से शुद्ध स्वर साधन एवम् रागाभिव्यक्ति में नाभि धाम से लेकर कण्ठ देशीय मूर्धा धाम तक को विकृत करने वाली आसुरी प्रवृत्ति से क्षतिग्रस्त, कुन्दवत, सभी स्वर यन्त्र शास्त्र गर्भित स्वर सामग्री का अभ्यास करते करते यथार्थता को पालने के पश्चात् शिथिल पड़ जाते हैं। फिर उन्हें छेड़ना उचित नहीं होता। एक प्रकार से उनका योगदान जनित कार्यक्रम समाप्त हो जाता है और स्वराभिव्यक्ति से हटकर वाक् अभिव्यक्ति व सृष्टि चिन्तन के साथ हो जाते हैं। क्योंकि वे सभी परमार्थगामी हो जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन से शुद्ध स्वर साधन में प्रदर्शन रहित आर्चिक बल की प्रधानता ही बनी रहती है और इसका एकमात्र कारण होता है कि

स्वराभिव्यक्ति में आर्चिक बल की प्रधानता के कारण अमृत मय शब्द साहित्य का अवतरण होने लगता है जो ही शास्त्र रूप में प्रकट होकर साधक के अन्तःकरण में समाहित शुद्ध स्वर साधन का प्रभाव और उसी का फल सिद्ध होता है। वही वाक् सम्बन्धी कलि कलुष को विदग्ध करता हुआ नाद तत्त्व सम्बन्धी अमृतता का दिग्दर्शन कराने में सक्षम होता है। यही है शुद्ध स्वर साधन का विराट् दर्शन जो प्रदर्शन रहित तप की पूर्णता में संगीत साहित्य काव्य के रूप में प्रकट होता है।

समझने की बात है कि यह लेखन सामग्री कितनी दूर है। इसको पाना और जन मानस के बीच दर्शाना कितना कठिन और महंगा है। कीट भृंगार्चिकम् इस ग्रन्थ दर्शन का मूल श्रोतव्य साध्य मन्त्र है। जिसके प्रभाव से ही जिसके अनुगुञ्जन और सस्वर जप से ही यह ग्रन्थरूप में प्रकट हुआ है। आशा है कि संगीतज्ञों के सम्मुख होकर उन्हें संगीत केवल कला ही नहीं एक सर्व साधन श्रेष्ठ विद्या है। जिसकी पहचान परमनाद बिन्दु परमात्मा से है। यह ग्रन्थ जिज्ञासु साधकों को लाभान्वित करने में सक्षम होगा। और वे कीट भृंगार्चिकम् नामक ग्रन्थ से सहमत होकर रचनाकार-लेखक को अपनी सस्वर शुभकामना प्रेषित करते रहने में कभी भी च्युत नहीं होंगे।

विदुशामनुचरः

त्रिवेणी प्रसाद त्रिपाठी

संशोधित परिवर्धित प्रकरणम्

शिवस्वरूप दर्शन	ॐ नादब्रह्मणे नमो नमः		
अनाश्रिताच्युतानाहत विजन देशीय परमाकाश अस्पर्श स्वशक्तिविज्ञानमय स्वयं प्रकाश चेतन तत्त्व अनादि ब्रह्म रूप ईकार सहित ब्रह्मतत्त्व अनादि नाद ब्रह्म	'अ' परमाकाश से अवतरित प्रथम 'अच' नादविकांवमक्षराणामकारः। आदि सृष्टि ईकार युक्त आकाशरूप नाभिप्रदेशीय शिवनाद बिन्दु-गुण रूप।	आहत नाद प्राकृत षड्ज नाभि हृदि मुखदेशीय एकाकार जो प्राकृत है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रादि से सहजता पूर्वक स्फुरित होने वाला, नवाचों का संयमित संतुलन। अग्निवायु प्रधान सूर्य-चन्द्रका संतुलित रेचक कुंभक। मूर्धा तालु कंठ, दंत ओष्ठादि में नवाचों का सहज स्फुरण, स्वभावयुक्त। 25 प्रतिशत पृथ्वी जलापात जो आवश्यक है। पर व्याकरण व साधन शैली दूसरों को न दे पाने की अज्ञानता शोध का अभाव।	स्वरान्तर का प्रायोगिक 'सा' पृथ्वी जलापात से व्यथित। स्वर वर्ण व्यञ्जनाभि व्यक्तिका कंठापात। ८५ प्रतिशत पृथ्वी जलापात का कंठ जगत में दबाव एवं षडतन्तुओं की निष्क्रियता। पृथ्वीजलापात के निरोध में प्रचलित स्वरान्तर अलंकारों की अक्षमता योग एवं जिज्ञासा शोध एवं खोज करने का क्षेत्र। अचार्चिक साधन से प्राकृत षड्जाकार का ज्ञान एवं नवाचों की विशेषता व नवाचों के उद्भव का ज्ञान व अच्युत अनाहत अमृत पद की प्राप्ति की साधन भूमि।

संगीतोपयोगी स्वरान्तर का आर्चिक में प्रवेश

मध्य षड्ज स्वर पर आर्चिक साधन विधि 'सा'			सप्त शुद्ध स्वरों की संशुद्धि हेतु अचार्चिक स्वर साधन पद्धति ऋ ओम् ऐं ह्रीं क्लीं ए ओङ् ऐ औच्। लृ ओम् ऐं ह्रीं क्लीं ए ओङ् ऐ औच्।।												
	ऋ	ओ	रा	रा	री	री	रु	रु	रे	रै	रो	रौ	रं	रः	पृथ्वी
सा	लृ	ओ	ला	ला	ली	ली	लू	लू	ले	लै	लो	लौ	लं	लः	जलापात
	ई	ओ	शा	शा	शी	शी	शू	शू	शे	शै	शो	शौ	शं	शः	का
	लृ	ओ	सा	सा	सी	सी	सू	सू	से	सै	सो	सौ	सं	सः	निरोधा-
	लृ	ओ	हा	हा	ही	ही	हू	हू	हे	है	हो	हौ	हं	हः	र्चन एवं
	लृ	ओ	का	का	की	की	कू	कू	के	कै	को	कौ	कं	कः	नवीनतम
	लृ	ओ	खा	खा	खी	खी	खू	खू	खे	खे	खो	खौ	खं	खः	शल्य
	लृ	ओ	गा	गा	गी	गी	गू	गू	गे	गै	गो	गौ	गं	गः	साधन
	लृ	ओ	घा	घा	घी	घी	घू	घू	घे	घै	घो	घौ	घं	घः	शैली
	ई	ओ	चा	चा	ची	ची	चू	चू	चे	चै	चो	चौ	चं	चः	
	ई	ओ	छा	छा	छी	छी	छू	छू	छे	छै	छो	छौ	छं	छः	
	ई	ओ	जा	जा	जी	जी	जू	जू	जे	जै	जो	जौ	जं	जः	
	ई	ओ	झा	झा	झी	झी	झू	झू	झे	झै	झो	झौ	झं	झः	
	ऋ	ओ	टा	टा	टी	टी	टू	टू	टे	टै	टो	टौ	टं	टः	
	ऋ	ओ	ठा	ठा	ठी	ठी	ठू	ठू	ठे	ठै	ठो	ठौ	ठं	ठः	
	ऋ	ओ	डा	डा	डी	डी	डू	डू	डे	डै	डो	डौ	डं	डः	
	ऋ	ओ	ढा	ढा	ढी	ढी	ढू	ढू	ढे	ढै	ढो	ढौ	ढं	ढः	
	लृ	ओ	ता	ता	ती	ती	तू	तू	ते	तै	तो	तौ	तं	तः	
	लृ	ओ	था	था	थी	थी	थू	थू	थे	थै	थो	थौ	थं	थः	
	लृ	ओ	दा	दा	दी	दी	दू	दू	दे	दै	दो	दौ	दं	दः	
	लृ	ओ	धा	धा	धी	धी	धू	धू	धे	धै	धो	धौ	धं	धः	
	लृ	ओ	ना	ना	नी	नी	नू	नू	ने	नै	नो	नौ	नं	नः	
	लृ	ओ	पा	पा	पी	पी	पू	पू	पे	पै	पो	पौ	पं	पः	
	लृ	ओ	फा	फा	फी	फी	फू	फू	फे	फै	फो	फौ	फं	फः	
	लृ	ओ	बा	बा	बी	बी	बू	बू	बे	बै	बो	बौ	बं	बः	
	लृ	ओ	भा	भा	भी	भी	भू	भू	भे	भै	भो	भौ	भं	भः	
	लृ	ओ	मा	मा	मी	मी	मू	मू	मे	मै	मो	मौ	मं	मः	
	ऋ	ओ	ज्ञ	ञ	म	ङ	ण	न	म्	५ बार					
	लृ	ओ	आ	आ	ई	ई	ऊ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	
	लृ	ओ	आ	आ	ई	ई	ऊ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	

इसी प्रकार मध्य पञ्चम तक साधन अनिवार्य है।

"जौनपुर घराने का आध्यात्मिक संगीत व्याकरणम्"

परादेश गामी कीट भृंगार्चिकम् की शुद्ध स्वर साधन शैली

क्रमांक आरोह- सा रे ग म प ध नी सां।
अवरोह- सां नी ध प म ग रे सा।।

शुद्ध स्वर **प्रस्तार अलंकार**

तीन आवर्तन
पाठ क्रमांक (१)

सा
सा रे सा
सा रे ग रे सा
सा रे ग म ग रे सा
सा रे ग म प म ग रे सा
सा रे ग म प ध प म ग रे सा
सा रे ग म प ध नी ध प म ग रे सा
सा रे ग म प ध नी सां नी ध प म ग रे सा
सा रे ग म प ध नी ध प म ग रे सा
सा रे ग म प ध प म ग रे सा
सा रे ग म प म ग रे सा
सा रे ग म ग रे सा
सा रे ग रे सा
सा रे सा
सा

सा रे ग म प ध नी सां सां नी ध प म ग रे सा

तीन आवर्तन

पाठ क्रमांक (२)

सा

सा रे रे सा

सा रे ग ग रे सा

सा रे ग म म ग रे सा

सा रे ग म प प म ग रे सा

सा रे ग म प ध ध प म ग रे सा

सा र ग म प ध नी नी ध प म ग रे सा

सा रे ग म प ध नी सां सां नी ध प म ग रे सा

सा रे ग म प ध नी नी ध प म ग रे सा

सा रे ग म प ध ध प म ग रे सा

सा रे ग म प प म ग रे सा

सा रे ग म म ग रे सा

सा रे ग ग रे सा

सा रे रे सा

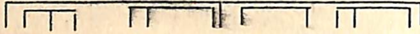
सा

सा रे ग म प ध नी सां सां नी ध प म ग रे सा।

शुद्ध स्वर **अवकण अलंकार**

३ आवर्तन

पाठ क्रमांक (३)



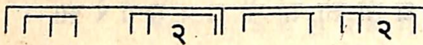
आरोह–

सा ऩिसा रे सारे ग रेग म गम प मप ध पध नी धनी
सं निसां

अवरोह–

सां निसां नी धनी ध पध प मप म गम ग रेग रे सारे
सा ऩिसा

पाठ क्रमांक (४)



शुद्ध स्वर **उपकण अलंकार**

आरोह–

सा रेसा रे गरे ग मग म पम प धप ध नीध नीसांनी
सां रेसां

अवरोह–

सा रेंसां नि सांनी ध नीध प धप म पम ग मग रेगरे
सा रेसा

शुद्ध स्वर साधन **मुरक अलंकार**

पाठ क्रमांक (५)

आरोह–

सारे सारेसा रेग रेगरे गम गमग मप मपम पध पधप

धनी धनीध निसां निसांनी सारें सरेंसा

अवरोह–

सांरें सांरेंसा निसां निसांनी धनी धनीध पध पधप मपमपम

गम गमग रेग रेगरे सारे सारेसा

शुद्ध स्वर साधन **मुरक–अवकण अलंकार**

पाठ क्रमांक (६)

आरोह–

सारे सारेसा निसा रेग रेगरे सारे गम गमग रेग

मप मपम गम पध पधप मप धनी धनीध पध

निसां निसांनी धनी सारें सांरेंसां निसां

अवरोह–

सांरें सांरेंसां निसां निसां निसांनी धनी धनी धनीध पध

पध पधप मप मप मपम गम गम गमग रेग रेग रेगरे सारे

सारे सारेसा ऩिसा

शुद्ध स्वर साधन **मुरक उपकण अलंकार**

पाठ क्रमांक (७)

आरोह–

सारे सारेसा रेसा रेग रेगरे गरे गम गमग मग

मप मपम पम

पध पधप धप धनी धनीध नीध निसां निसांनी सांनी

सांरें सांरेंसां रेंसां

अवरोह–

सांरें सांरेंसां रेंसां निसां निसांनी सांनी धनी धनीध नीध

पध पध धप

मप मपम पम गम गमग मग रेग रेगरे गरे सारे सारेसा रेसा

शुद्ध स्वर साधन **दो मुरक अलंकार**

पाठ क्रमांक (८)

आरोह–

सारे सारेसा रे सारेसा रेग रेगरे ग रेगरे गम गमग म गमग

मप मपम प मपम पध पधप ध पधप धनी धनीध नी धनीध

निसां निसांनी सां निसांनी सारें सारेंसां रें सारेंसा

अवरोह–

सांरें सांरेंसां रें सांरेंसां निसां निसांनी सां निसांनी

धनी धनीध नी धनीध

पध पधप ध पधप मप मपम प मपम गम गमग म गमग

रेग रेगरे ग रेगरे सारे सारेसा रे सारेसा

 दो मुरक अवकण मिश्रित अलंकार

पाठ क्रमांक (९)

आरोह–

सारे सारेसा रे सारेसा निसा रेग रेगरे ग रेगरे सारे

गम गमग म गमग रेग मप मपम प मपम गम

पध पधप ध पधप मप

धनी धनीध नी धनीध पध निसां निसांनी सां निसांनी धनी

सांरें सांरेंसां रें सांरेंसां निसां

अवरोह–

सांरें सांरेंसां रें सांरेंसां निसां निसां निसांनी सां निसांनी धनी

धनी धनीध नी धनीध पध पध पधप ध पधप मप

मप मपम प मपम गम गम गमग म गमग रेग

रेग रेगरे ग रेगरे सारे सारे सारेसा रे सारेसा ऩिसा

शुद्ध स्वर साधन दो मुरक **उपकण मिश्रित अलंकार**

पाठ क्रमांक (१०)

आरोह-

सारे सारेसा रे सारेसा रेसा रेग रेगरे ग रेगरे गरे

गम गमग म गमग मग मप मपम प मपम पम

पध पधप ध पधप धप

धनी धनीध नी धनीध नीध निसां निसांनी सां निसांनी सांनी

सांरें सांरेंसां रें सांरेंसां रेंसांरें

अवरोह-

सांरें सांरेंसां रें सांरेंसां रेंसां निसां निसांनी सां निसांनी सांनीं

धनी धनीध नी धनीध नीध पध पधप ध पधप धप

मप मपम प मपम पम गम गमग म गमग मग

रेग रेगरे ग रेगरे गरे सारे सारेसा रे सारेमा रेसा

-आलाप योग्य-

शुद्ध स्वर सरल वक्र अलंकार में मुरक और अवकणोपकण अलंकार

पाठ क्रमांक (११)

आरोह-

सारेगरे सारेसा रेगमग रेगरे गमपम गमग

मपधप मपम पधनीध पधप धनीसांनी धनीध

निसांरेंसां निसांनी सांरेंगरें सांरेंसां

अवरोह-

सांरेंगरें सांरेंसां निसांरेंसां निसांनी धनीसांनी धनीध

पधनीध पधप मपधप मपम गमपम गमग रेगमग रेगरे

सारेगरे सारेसा

शुद्ध स्वर वक्र अलंकार में मुरक और कण

पाठ क्रमांक (१२)

आरोह-

सारेगरे सारेसा ऩिसा रेगमग रेगरे सारे

गमपम गमग रेग मपधप मपम गम पधनीध पधप मप

धनीसांनी धनीध पध निसारेंसां निसांनी धनी

सारेंगरें सारेंसां निसां

अवरोह-

सारेंगरें सारेंसां निसां निसारेंसां निसांनी धनी

धनीसांनी धनीध पध

पधनीध पधप मप मपधप मपम गम गमपम गमग रेग

रेगमग रेगरे सारे सारेगरे सारेसा ऩिसा

पाठ क्रमांक (१३)

आरोह–

सारेगरे सारेसा रेसा रेगमग रेगरे गरे गमपम गमग मग

मपधप मपम पम पधनीध पधप धप धनीसांनी धनीध नीध

निसांरेंसां निसांनी सांनी सांरेंगंरें सांरेंसां रेंसां

अवरोह–

सांरेंगंरें सांरेंसां रेंसां निसांरेंसां निसांनी सांनी

धनीसांनी धनीध नीध

पधनीध पधप धप मपधप मपम पम गमपम गमग मग

रेगमग रेगरे गरे सारेगरे सारेसा रेसा

सरल वक्र अलंकार में दो मुरक

पाठ क्रमांक (१४)

आरोह-

सारेगरे सारेसा रे सारेसा रेगमग रेगरे ग रेगरे

गमपम गमग म गमग मपधप मपम प मपम

पधनीध पधप ध पधप धनीसांनी धनीध नी धनीध

निसांरेंसां निसांनी सां निसांनी

सांरेंगरें सांरेंसां रें सांरेंसां

अवरोह-

सांरेंगरें सांरेंसां रें सांरेंसां निसांरेंसां निसांनी सां निसांनी

धनीसांनी धनीध नी धनीध पधनीध पधप ध पधप

मपधप मपम प मपम गमपम गमग म गमग

रेगमग रेगरे ग रेगरे सारेगरे सारेसा रे सारेसा

इसी प्रकार से उपरोक्त वक्र अलंकार में मुरक अवकण और उपकण मिलाकर **पाठ क्रमांक १५** तक पूरा हो जाता है।

जैसे–

सारेगरे सारेसा रे सारेसा ऩिसा

रेगमग रेगरे ग रेगरे सारे गमपम गमग म गमग रेग

मपधप मपम प मपम गम पधनीध पधप ध पधप मप

धनीसांनी धनीध नी धनीध पध

निसांरेंसां निसांनी सां निसांनी धनी

सांरेंगरें सांरेंसां रें सांरेंसां निसां

इसी प्रकार क्रमशः अवरोह करना चाहिए।

शुद्ध स्वर साधन में वक्र अलंकार व दो मुरक उपकण मिश्रित अलंकार।

पाठ क्रमांक (१६)

आरोह-

सारेगरे सारेसा रे सारेसा रेसा रेगमग रेगरे ग रेगरे गरे

गमपम गमग म गमग मग मपधप मपम प मपम पम

पधनीध पधप ध पधप धप धनीसांनी धनीध नी धनीध नीध

निसांरेंसां निसांनी सां निसांनी सांनी

सांरेंगरें सांरेंसां रें सांरेंसां रेंसां

अवरोह-

सांरेंगरें सांरेंसां रें सांरेंसां रेंसां

निसांरेंसा निसांनी सां निसांनी सांनी

धनीसांनी धनीध नी धनीध नीध पधनीध पधप ध पधप धप

मपधप मपम प मपम पम गमपम गमग म गमग मग

रेगमग रेगरे ग रेगरे गरे सारेगरे सारेसा रे सारेसा रेसा

कीट भृंगार्चिकम् स्वरानुगुञ्जनम् शुद्ध स्वर साधन शैली से एक व्यापक सर्वांगीण नाभिवल देशीय से लेकर मूर्धा देशीय एकाकार प्रधान करवट जो गायन प्रधान और भक्ति ज्ञान परक है।

शुद्ध स्वर सम विसम अलंकार समूह

पाठ क्रमांक (१७)

प्रकार क्रमांक–

१. सासा रेरे गग मम पप धध नीनी सांसां

सांसां नीनी धध पप मम गग रेरे सासा

२. सारे रेग गम मप पध धनी निसां

सांनी नीध धप पम मग गरे रेसा

३. **आ.** सासासा रेरेरे गगग ममम पपप धधध नीनीनी सांसांसां

अव. सांसांसां नीनीनी धधध पपप ममम गगग रेरेरे सासासा

४. **आ.** सासासासा रेरेरेरे गगगग मममम पपपप धधधध नीनीनीनी सांसांसांसां

अव. सांसांसंसां नीनीनीनी धधधध पपपप मममम गगगग रेरेरेरे सासासासा

५. सारेग रेगम गमप मपध पधनी धनीसां

सांनीध नीधप धपम पमग मगरे गरेसा

६. सारेगम रेगमप गमपध मपधनी पधनीसां

सांनीधप नीधपम धपमग पमगरे मगरेसा

७. सारेगमप रेगमपध गमपधनी मपधनीसां

सांनीधपम नीधपमग धपमगरे पमगरेसा

८. सारेगमपध रेगमपधनी गमपधनीसां

सांनीधपमग नीधपमगरे धपमगरेसा

९. सारेगमपधनी रेगमपधनीसां

सांनीधपमगरे नीधपमगरेसा

१०. सारेगमपधनीसां सांनीधपमगरेसा। ५ बार।

षड्ज मध्यम एवम् षड्ज पञ्चम सम्वाद बल अलंकार

पाठ क्रमांक (१८)

आरोह-

सारे सारेग सारेगम सारेगमप सापमगरेसा

रेग रेगम रेगमप रेगमपध रेधपमगरे

गम गमप गमपध गमपधनी गनीधपमग

मप मपध मपधनी मपानीसां मसांनीधपम

अवरोह-

मप मपध मपधनी मपधनीसां मसांीधपम

गम गमप गमपध गमपधनी गनीधपमग

रेग रेगम रेगमप रेगमपध रेधपमगरे

सारे सारेग सारेगम सारेगमप सापमगरेसा

सारेगम, पधनीसां, सांनीधप मगरेसा,। पांच बार।

आर्चिक प्रस्तार चक्राकार अलंकार

पाठ क्रमांक (१९)

१. सारेग रेसाग सागरे गसारे रेगसा गरेसा

२. सारेम रेसाम सामरे मसारे रेमसा मरेसा

३. सारेप रेसाप सापरे पसारे रेपसा परेसा

४. सारेध रेसाध साधरे धसरे रेधसा धरेसा

५. सारेनी रेसानी सानीरे नीसारे रेनीसा नीरेसा २ बार–

सारेध रेसध साधरे धसारे रेधसा धरेसा

सारेप रेसाप सापरे पसारे रेपसा परेसा

सारेम रेसाम सामरे मसारे रेमसा मरेसा

सारेग रेसाग सागरे गसारे रेगसा नरेसा

सारेगम पधनीसां सांनीधप मगरेसा। पांच बार।

उर्जाप्रधान कीट भृंगार्चिकम् स्वरानुगुञ्जनम्

कण्ठ जगत में नाभिवल प्रदायक एकाकार करवट की प्राप्ति

पाठ क्रमांक (२०)

गमपम गमग गमग मम गम गमग गमग

उपरोक्त स्वरावलियों में कीट भृंगार्चिक का स्वरानुगुञ्जनम होता है। परन्तु उसे साधन के लिये निम्नांकित किया जा रहा है।

सा– सारेगरे सारेसा सारेसा रेरे सारे सारेसा सारेसा

रे– रेगमग रेगरे रेगरे गग रेग रेगरे रेगरे

ग– गमपम गमग गमग मम गम गमग गमग

म– मपधप मपम मपम पप मप, मपम मपम

प– पधनीध पधप पधप धध पध पधप पधप

ध– धनीसांनी धनीध धनीध नीनी धनी धनीध धनीध

नी– निसारेंसां निसांनी निसांनी सांसां निसां निसांनी निसांनी

सां– सांरेंगरें सांरेंसां सांरेंसां रेंरें सांरें सांरेंसां सांरेंसां। २ बार

इसी प्रकार से क्रमशः पुनः अवरोही क्रम से षड्ज की तरफ पुनरागमन करना चाहिए। तदुपरान्त– सारेगमपधनीसां सांनीधपमगरेसा को पांच से १० बार तक करके अभ्यास समाप्त करना चाहिए।

षड्ज स्वर पर त्वदीयम वस्तु गोविन्दम– तुभ्यमेव समर्पये एवम् श्री रामकृष्णार्पणमस्तु सस्वर उच्चारण के साथ शुद्ध स्वर साधन का सस्वर पाठ

समाप्त करना चाहिए। और कलाभिव्यक्ति के लिये रागों का विस्तार एवम् ताल बद्ध गायन का अभ्यास सामयिक रागों को शुद्ध स्वर साधन के एक घन्टे के पश्चात ही करना कण्ठ जगत के उद्धार के लिये श्रेयस्कर एवम् उचित कदम होगा।

यह सस्वर साधन सामग्री वैय्याकरण नैयायिक वेदान्ती कर्मकाण्डी एवम् वेदपाठी व चिन्तनशील प्राणायाम पारायण स्वाध्यायियों के लिये अनिवार्य है। क्योंकि सस्वर उच्चारण स्वर ज्ञान साधन बद्ध होता है। वह अनुमानित कत्तई नहीं होता। अनुमानित स्वरोच्चारण पर्यावरण को प्रदूषित ही करते हैं। संस्कृत विद्यालयों में संगीत स्वर ज्ञान साधन की अनिवार्यता ही उपयुक्त देश हित में है।

❖

आर्चिक प्रसंग

कीटभृंगार्चिकम्

ईश्वरेच्छा सदा शक्तिः स्वर रूपेण भाष्यते।
अर्थशब्देन लोकेऽस्मिन् शास्त्रेऽपिव्यपिदिश्यते।।१।।

अन्वयः- ईश्वरेच्छा शक्तिः सदा स्वर रूपेण भाष्यते। अस्मिन् लोके शास्त्रे अपि अर्थ शब्देन व्यपिदिश्यते।

भावार्थ- ईश्वर की इच्छा ही शक्ति है। समष्टि व्यष्टि पदार्थों के साथ इच्छा शक्ति ही कृति और कीर्ति है। इसी प्रकार से उस की सृष्टि का मूल स्वर और शब्द है। जिसका उच्चारण मुख देश से होता है; क्योंकि मानव मुख देश षडाङ्गी अर्थात् छः देशीय है। मूर्धा, तालु, दंतोष्ठ, नाशिका, कण्ठ ये सभी मुख देशीय कहे जाते हैं। शक्ति ही प्रकृति है। इच्छा ही कुछ करने का सूचक है। जो कुछ वर्तमान है वही ईश्वर की कृति है।

वास्तव में स्वर, वर्ण, शब्द ये सभी नाम अभिन्न हैं; क्योंकि इनकी कोई आकृति नहीं होती। इसलिये स्वर और वर्ण श्रोतव्य होते हैं। यही वह शक्ति है जो कभी द्रष्टव्य नहीं होती; परन्तु श्रोतव्य होती है। उसके भाव और अर्थ का श्रवण होता है, जो सुना और समझा जाता है।

इस प्रकार बिना अर्थ के कोई भी आकृति अर्थात् अर्थ समझ में नहीं आती। जैसे "घट" इसके उच्चारण से उसका रूप और अर्थ दोनों अभिन्न रूप से सिद्ध होते हैं। इस प्रकार स्वर शब्द रूप अभिन्न है। जहाँ रूप है वहाँ स्वर शब्द की ध्वनि भी है, रूप में स्वर शब्द ध्वनि यही ईश्वर की अद्वितीय शक्ति है। जिसके ज्ञान और प्राप्ति के लिये शास्त्र और साधन है। इसमें अक्षर नाम

अदृश्य है। अदृश्य का दूसरा नाम वर्ण है। जो अक्षर लिखा जाता है वही वर्ण है। अक्षर वर्ण या यों कहें कि स्वर का सगुण रूप वर्ण है। वर्ण लिखा जाता है अक्षर बोला जाता है। वर्ण का रूप है। बोले हुए अक्षर का कोई रूप नहीं होता। उसी प्रकार स्वर का भी कोई रूप नहीं होता।

प्रभावः शब्दशक्तेश्च प्रायः मन्त्रेषु दृश्यते।
विषाय हरणचालेः भुजङ्गस्यापि नियम्यते।।२।।

अन्वयः– शब्द शक्तेः प्रभावः मन्त्रेषु दृश्यते अलेः भुजङ्गस्य च अपि तत्वतः विषाय हरणम् (भवति)

भावार्थ– मन्त्रोच्चारण के अन्तर्गत शब्द शक्ति का प्रभाव प्रायः उसके प्रयोग होने पर देखा जाता है। एक सत् चण्डी के अनुष्ठान हवन यज्ञ एवम सस्वर मन्त्रोद्घोष मनुष्य देह से लेकर पर्यावरण में वर्षों तक वह प्रसादित होता रहता है। बिच्छू (आले) तथा सर्पों के विष का निवारण मात्र मौन (अघोषित) मध्यमा वाक् में अनुगञ्जन के प्रभाव से हो जाता है। भाव यह है मन्त्रोद्घोष और औषधि प्रयोग ये दोनों ही प्रकृति की सूक्ष्मांश शक्ति है जो स्थूल देह के रक्तादि में अनुप्रविष्ट विष का प्रभाव समाप्त कर देने में सक्षम हैं। इस प्रकार सभी मन्त्रों में मात्रायें और लय मन्त्रों की सस्वरता के सूचक हैं। चाहे वे घोषित हों या अघोषित। मृत्यु होने से जो बचा देने वाला तत्त्व है वह स्वर, शब्द और लय है। लय ही आयु है और अमृत भी है इसलिये स्वर और लय की शक्ति ज्ञान स्वरूप अमृत है। जो सस्वर सूचक है। सस्वर का दूसरा अर्थ है प्राणवान्।

टिप्पणी– मौन मन्त्र जप से जब सर्प जैसे विष का हरण हो जाता है तो वास्तव में वह प्रभाव वैखरी के अन्दर मध्यमा वाक् की सिद्धि होती है। चूँकि वैखरी की सिद्धि मध्यमा वाक् ही है। इसी प्रकार क्रमशः मध्यमा की सिद्धि पश्यन्ती, और पश्यन्ती की सिद्धि परा। वैसे चारों वाकों में शक्ति अपना कार्य करती रहती है। "को बड़ छोट कहत-अपराधू"– का सिद्धान्त सिद्ध होता

है। इन सभी वाकों में क्योंकि स्वर ज्ञान एवम उसका गर्भ ज्ञान व परमात्म तत्त्व विषयक है। राम चरित मानस के अनुसार जयन्त जो इन्द्र का पुत्र है राम ब्रह्म हैं या नहीं इसकी परीक्षा लेने के लिये एक दुस्साहसिक प्रयास किया था।

प्रकृतिर्मौनमालम्ब्य स्वकार्यङ्कुरुतेऽवशा।
समापतत्यवरोधे नहिं कार्यात् विरम्यते।।३।।

अन्वयः- अवशा प्रकृतिः मौनम् आलख्य स्वकार्यम् कुरुते। अवरोधे समापतति (सति) कार्यात् नहिं विरम्यते।

भावार्थः- प्रकृति स्वतन्त्र रूप से मौन धारण कर अपना कार्य करती रहती है। यही वह सूक्ष्म प्रकृति है जो आवश्यकता पड़ने पर महाकाली, दुर्गा, और सीता का रूप धारण कर प्रकट हो जाती है। प्रकृति की परिभाषा में 'प्र' अक्षर अखिल ब्रह्माण्ड नायक ईश्वर सूचक है। 'कृति' का अर्थ होता है प्रत्यक्ष। जो सृष्टि में द्रष्टव्य है। जैसे (सूर्य-चन्द्र), पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के अंश से उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ। जंगल, पर्वत, अन्न, औषधि, फल, फूल, पशु, पन्छी, सर्प, इत्यादि सभी 'कृति' के सूचक है। इसी प्रकार से 'प्र' और 'भू' को जोड़ने पर प्रभू शब्द की व्युत्पत्य होती है। प्रभू में 'प्र' यानि आत्म बिन्दु। 'भू' अर्थात् 'प्र' की कृति। यानि जो भी परमात्म स्वरूप नाद बिन्दु ने धरा से लेकर सौर मण्डल और पाताल तक प्रकट किया। इस प्रकार प्रकृति ही प्रभु सूचक है; क्योंकि प्रकृति और प्रभू की परिभाषा एक है। वैसे प्रकृतिस्थ होना कठिन है।

प्रकृति के कार्य में जिसे अवरोध दिखाई पड़ता है वह स्थिति गम्य नहीं; अज्ञान मूलक है। प्रकृति का कार्य निर्विघ्न रूप से अनवरत चलता रहता है। जैसे बाँसों के झुरमुट में पूर्व के बाँसों की एक मोटी पतली शाखाओं के अगल बगल से बिना किसी टकराव के वह नवाङ्कुर अनवरत ऊपर बढ़ता चला जाता है। वह टकराता नहीं; क्योंकि अपने से कोई न लड़ता है न टकराता ही है।

यही बात उस नवाङ्कुर में है। उसे इसका ज्ञान होता है। यही उस प्रकृति का 'यश' है, जो उसकी मौनता, ज्ञानमय एकता को इस ग्रन्थ में चरितार्थ किया जा रहा है। यही बात शासन, प्रशासन, कृषि, व्यापार, उद्योग, साधन, भजन, संशोधन, रचना, स्वर साधन सभी में प्रकृति ही यश कीर्ति, अमृत, आनन्द ज्ञान सूचक है। जिसमें न कोई क्लेश है न दुःख द्वन्द्व, न भ्रम न भय। प्रभू शब्द में 'प्र' पहले है। इसमें कृति और 'भू' प्रत्यक्ष और कृति सूचक हैं। जो प्रत्यक्ष दिखाी देता है वही परादेशीय परमात्मा की कृति है। इस प्रकार परा से 'परि' और 'प्र' दोनों की उत्पत्ति होती है। परा में 'परि' और 'प्र' दोनों ही परा के अपभ्रंश माने जाते हैं। इसमें परा का अपभ्रंश परि और परि का अपभ्रंश 'प्र' है। 'प्र'-परमात्म नाद बिन्दु की कृति और उसकी अर्चना का निमित्त स्वर शब्द, ताल, लय, श्लोक, मन्त्रपाठ, इत्यादि संगीत नामक कला के ही आवरण स्वरूप वस्त्र हैं और संगीतमय कला स्वर, शब्द, ताल, लय, मात्रा, सस्वर मन्त्र पाठ, श्लोक, छन्द कर्मकाण्ड विषय ब्रह्म देवाराधन सभी उस विद्या स्वरूप निर्लिप्त 'प्रकृति' के नाम धारी आवरण हैं।

एवमेव स्वराभ्यासः मन्त्राभ्यासस्तथैव च।
प्रकर्त्तव्यः सदासर्वैः ह्यवरोधेनरोधयत्।।४।।

अन्वयः–अवरोधेन रोधयत् (अपि) सर्वैः एवम् एष स्वराभ्यासः प्रकर्त्तव्यः।

भावार्थः– इसी प्रकार अर्थात् जिस प्रकार प्रकृति अवरोधों से बचकर बिना दुःख द्वन्द्व के प्रसन्नतापूर्वक अपना कार्य करती है। वास्तव में मानव के लिये ही शास्त्रों का यह निर्देश है। परन्तु इस निर्देशन की ज्ञान भूमि संगीत जगत् में स्वरों की आर्चिकता में है। जिसकी साधना से मन्त्रों का रहस्य भी ज्ञातव्य होता है। बिना स्वर मन्त्र अभ्यास के सेवक सेव्य में अभेदत्व की सिद्धि सम्भव नहीं होती। प्रकृति एक है उसका कोई अवरोधक नहीं होता। अवरोध तो अज्ञान मूलक होता है। इस प्रकार प्रकृति विद्या और ज्ञान का मूल है।

टिप्पणीः- प्रश्न यह उठता है कि अविद्या और विद्या का क्या कोई बँटवारा है? अथवा विद्या और अविद्या दो हैं, कि एक। इसके उत्तर में यही कहना श्रेयस्कर है कि विद्या शब्द में जब 'अ' प्रयुक्त होता है तो वह अविद्या शब्द बनता है। विद्या की धातु 'विद्' है। विद् का अर्थ जानने से है। जानना किसको है। विद्या में जो 'अ' प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'अ' के विषय में व्याकरण शास्त्र व 'गीता' दोनों ही अ को 'अक्षराणामकारोस्मि' इस प्रकार से जानते हैं। इसी 'अ' में स्थित होना ही साधन ज्ञान का लक्ष्य होता है अर्थात् अविद्या में 'अ' को जानने का माध्यम और सर्वोच्च संगीत कला में स्वर साधन है। जो अकारो वासुदेवः स्यात् का सूचक है। अस्तु अविद्या का अर्थ प्रकृति है न कि अज्ञान।

मन्त्रात्मिका स्थिता शक्तिः कार्य रूपेण जायते।
कीटभृंगी यथालोके झिल्ली मण्डम् करोति ह।।५।।

अन्वयः- मन्त्रात्मिका स्थिता शक्तिः कार्य रूपेण जायते। यथा लोके कीटभृंगी झिल्लीम् अण्डम् करोति।

भावार्थ- स्वर ही मन्त्रों में शक्ति है। मन्त्रों में अक्षर उस मन्त्र के अर्थ रूप को प्रतिपादित करते हैं। मन्त्र में उदात्तानुदात्त एवम् स्वरित तथा ह्रस्व दीर्घ प्लुत मन्त्र की मात्रा और लय की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार मन्त्र रूप में स्थित शक्ति ही कार्य रूप में परिणित होती है। यह शक्ति अन्य कोई नहीं प्रकृति ही है। 'कारणगुणाः-कार्यगुणान् आरभन्ते' यही सृष्टि का नियम है। जिसकी पकड़ चिन्तन, मननशील, स्वाध्याय तत्त्ववेत्ता और एकाचकीय अर्चकों में होती है। सर्वप्रथम शास्त्रों का अर्थ जाना जाता है। तदुपरान्त उसका चिन्तन स्वाध्याय सांकेतिक पदार्थों मे होता है; अर्थात् कारण के गुणों से कार्य के गुणों का आरम्भ होता है। इस प्रकार मन्त्रों में शब्दों के उच्चारण का कारण स्वर है। जो जनमानस को आकर्षित करता है और वही अर्थरूप में हृदयस्थ

भी होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वरोच्चारण व मन्त्रोच्चारण का मूल स्थूल व सूक्ष्म प्रकृति ही है और वही प्रकृति स्वयं ही शब्द अर्थ स्वर मन्त्र मात्रा लय रूप में क्रियाशील और प्रस्तुत है।

टिप्पणी– मन्त्रों में स्वर उसका कारण तथा लयबद्ध अक्षर उसका अर्थ है। इसी स्थिति में विश्व भर में प्रकृति शक्ति ही व्याप्त है चाहे वह लन्दन, अमेरिका, रशिया हो या अन्य कोई राष्ट्र। परन्तु स्वर मन्त्र का उपासक ज्ञान विज्ञान में सदा अनुरत भारत-अर्थात् 'भा' माने 'ज्ञान' 'रत' माने लीन। जो सदा ज्ञान में लीन भारत है को सदा ही प्रकृति पुरुष में एकता का ज्ञान रखता है। इसका मूल कारण स्वर श्रुति नाद बिन्दु ही एकता माध्यम का मूल श्रोत साधन है। जिस माध्यम से कीट भृंगी अपने स्वरात्मिका शक्ति के द्वारा झिल्ली-झेंगुर को अपना ही रूप प्रदान करने के लिये स्वयं में निहित अमृतरस स्राव से अण्डे के रूप में करके अपना ही रूप प्रदान कर देती है।

पुरासंदश्यते कीटः कीटभृंग्या स्वशक्तितः।
पश्चात् षड्जनिनादेन चाण्डम् भवति तद्ध्रुवम्।।६।।

अन्वयः–पुरा कीट भृंग्या स्वशक्तितः कीटः संदश्यते पश्चात् षड्ज निनादेन तद्ध्रुवम् अण्डम् (भवति)।

भावार्थ– (दीवार के कोने में मिट्टी का घर बनाने वाली विलनी को कीटभृंगी कहते हैं।) कीटभृंगी सदा ही सृष्टि करती रहती है। उसकी सृष्टि और कायाकल्प का ज्वलंत उदाहरण झिल्ली अर्थात् झंगुर नामक कूद कूद कर चलने वाले एक कीड़े का नाम है जिसकी आवाज बहुत ही सुरीली और मधुर होती है। उसे ही कीटभृंगी अपने चंगुल में पकड़ कर झेंगुर को बार बार डंक मारती है। जिसके निनाद और डंक से स्रावित अमृतरस प्रवेश-श्रवण से वह कीट मन्त्र मुग्ध हो जाता है। अर्थात् काया परिवर्तन की ज्ञान समष्टि दर्शन में वह कीट मग्न हो जाता है। इसके पश्चात् वह कीटभृंगी झेंगुर को अपने ही द्वारा निर्मित मिट्टी के घर में रखकर एकाचकीय षड्ज स्वर बिन्दु पर

निनादार्चन अर्थात् प्राकृत मन्त्र का सस्वर जप अनवरत करती रहती है। धीरे धीरे वह झेंगुर क्रम संकुचित होकर एक गोलाकार मांस पिण्ड अर्थात् अण्डे के रूप में हो जाता है। और उसी अण्डे में से पंख सहित एक कीटभृंगी जैसा उड़ने वाला बच्चा उसके साथ ही आकाश में उड़ने लगता है। कीटभृंगी में सृष्टि करने वाली अगर्भित रचना आज भी विद्यमान है। यह सृष्टि अर्थात् पृथ्वी सूर्य, चन्द्रादि सभी अगर्भित रचना में हैं। कीटभृंगी इसी उदाहरण को प्रस्तुत करती आ रही है कि वह नाद शक्ति के आधार पर वह स्वयं परमाकाश की तरह अगर्भित है।

तस्मादण्डात्समुत्थित्य कीटस्तु भंगरूपधृक्।
उत्पतति महाकाशे तद्वद्दशति वैततः।।७।।

अन्वयः– तस्मात् समुत्थित्य कीटस्तु भंगरूपधृक् महाकाशे उत्पतति ततः तद्वत् दशति।

भावार्थ– उस अण्डे से निकलकर कीट अर्थात् झिल्ली भृंगी का रूप धारण कर के महाकाश में उड़ने लगता है। अनन्तर वह परिवर्धित कीट भी पूर्व भृंगी की तरह अगर्भित सृष्टि रचना में अपनी विशिष्ट वैज्ञानिक भूमिका के साथ सक्रिय हो अपने में निहित अमृतरस को नव निर्मित दंश से झेंगुर में संप्रेषित करने का अपना अभ्यास शुरु करता है तथा रक्त को संस्कारित करने की प्रत्यक्षानुभूति कर प्रसन्न मुद्रा में विचरण करता है। इस श्लोक का यही अभिप्राय है।

टिप्पणी–कीटभृंगी डंक मार कर उसे पीड़ा नहीं देता, वरन् अपने विज्ञानमय रस को झिल्ली की देह में अपना संस्कार ही संप्रेषित करता है। इस प्रकार कीटभृंगी के मुख देश से निकलने वाला वह रस विज्ञानमय है उस विज्ञानमय रस के संप्रेषण में विराट् तत्त्व दर्शन के साथ आत्मज्ञान की स्मृति एवम् कायाकल्प का बोध दृढ़ निश्चय भूमिका के साथ सम्भावित होता है। उसकी इस क्रिया में किञ्चित मात्रा भी संदेह नहीं किया जा सकता है।

मृत्युहेतुर्न दंशोऽभूत किन्तु तत्कायशोधनम्।
तच्छक्तिः स्वरमात्रस्य या षड्जेसमुपाश्रिता।।८।।

अन्वयः– दंशः मृत्युहेतुः न अभूत किन्तु तत्काय शोधनम् या षड्जेसमुपाश्रिता स्वर मात्रस्य तच्छक्तिः।

भावार्थ– इस प्रकार कीटभृंगी का डसना मृत्यु का हेतु नहीं बनता। कीटभृंगी की उस क्रिया से काया का परिवर्तन व संशोधन सिद्ध होता है। जिसका स्पष्टीकरण षड्ज स्वर के निनाद व मन्त्रोद्घोष की मात्राओं में निहित होता है। मनुष्य में उसी स्वर मन्त्र मात्रा की शक्ति से विकार स्वभाव अविद्यक विचार दोष तथा रक्तादि की शुद्धि के साथ परिवर्तन स्वाभाविक है। अस्तु षड्जार्चन ही नाद स्वर मन्त्र मात्राओं में मूल तादात्म बिन्दु अमृत अगर्भित रस सूचक है। नाद का अमृत बिन्दु ही नाद का अद्वय रस है।

टिप्पणी– जब देह परिवर्तन में सतोगुण की प्रधानता होती है तो देह में अग्नि वायु की प्रधानता हो जाती है। मिट्टी और जल का अधिभार (गुरुत्वाकर्षण अंश के) घट जाने से प्रभावी नहीं होता। झेंगुर में पृथ्वी–जल तत्व का प्रतिशत अधिक होने के कारण वह पृथ्वी पर कूद कूद कर चलना पड़ता है। इस प्रकार कूदना उड़ने के निकट होता है। परन्तु पृथ्वी तत्त्व का अधिभार अधिक होने के कारण उसको उड़ने से विवश करता है। इसी कारण से कीटभृंगी अपनी दैवी प्राकृत जन्मज सूझ बूझ (अवलोकन) से कि यह कीट अवश्य ही उड़ने के निकट है। कायाकल्प के लिये उसे चयनित कर लेता है। इस प्रकार झेंगुर में अग्नि तत्त्व की प्रधानता होती है। परन्तु वायु तत्त्व अग्नितत्त्व से कम होता है। पृथ्वी व जल तत्त्व की अधिकता होती है। झेंगुर जिस वस्त्र को अपने मुख से चाटता है उतनी दूर तक का वह वस्त्र समाप्त हो जाता है; अर्थात् अग्नि की प्रधानता के कारण ही वह वस्त्र जल जाता है। उसके इस उत्पात के कारण तेज गन्ध वाली फिनाइल की गोलियों का निर्माण भी किया गया जो वस्त्रों के निकट रख दिया जाता है और झेंगुर फिर उस स्थान पर नहीं जाता।

झेंगुर में रायु तत्त्व सम्वर्धन के लिये कीटभृंगी अपनी वैज्ञानिकता का प्रयोग करती है। इसी वायु तत्त्व सम्वर्धन के कारण झिल्ली सतोगुण प्रधान हो जाता है कायाकल्प हो जाने के कारण झेंगुर वैज्ञानिक व सात्त्विक हो जाता है। इसमें सूर्य का रेकन प्रभारी हो जाता है। पृथ्वी का अंश आंशिक हो जाता है सतोगुण की प्रधानता से ही सूर्याकर्षण स्वाभाविक हो जाता है। यही कारण है कि आकाश में उड़ने वाले महाबली हनुमान जी फल ही खाते थे। सूर्याकर्षण की प्रधानता षड्ज स्वर में है। क्योंकि षड्ज के अधिपति सूर्य हैं; और सूर्य स्वयं ही षड्ज हैं। कीटभृंगी का नाद सूर्य की आराधना है। पृथ्वी तत्त्व प्रधान कीट में षड्ज निनाद उसे वायु प्रधान बनाने का माध्यम बन जाता है; तथा उसमें सात्त्विक अंश की बढ़त हो जाती है। कीट के उड़ने का उपरोक्त दृष्टांत जनमानस के सम्मुख प्रस्तुत है।

एतद्धेतुः समाख्यातः समाराधन पद्धतेः।
एतदेवार्चिकम् मार्गम् प्रवदन्ति मनीषिणः।।९।।

अन्वयः- समाराधन पद्धतेः एतद्हेतुः समाख्यातः। मनीषिणः एतद् एव आर्चिकम् मार्गम प्रवदन्ति।

भावार्थ- आराधना की पद्धति में यही कारण बताया गया है कि स्वर की आराधना से काया के प्रत्येक तन्तुओं सहित विकार वृत्ति विचारों का संशोधन-निवारण परिवर्तन हो जाता है। जिससे पूर्व की प्रकृति के मूल में भी परिवर्तन हो जाता है। यहाँ तक देखा गया है कि मूक वाचाल हो जाते हैं, उनका अवरुद्ध वैखरी देश अर्थात् मूर्धादि सभी देशों की जड़ता कुन्दता स्पन्दन योग्य हो जाता है। मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने वाले साधु हो जाते हैं । इसी स्वरार्चन पद्धति को मनीषी विद्वान ज्ञानी आर्चिक मार्ग बताते हैं। आर्चिक मार्ग का सम्बन्ध श्रुति स्वर सम्वाद ज्ञान का प्रभाव अमृत रस विज्ञान विषयक है।

भृंगार्चिकन्तु मौनम् स्यात् स्वस्फोटे ह्य चार्चिकम्।
प्रभावितम् भवेत स्वारम् मूर्धा शुद्धिश्च जायते।।१०।।

अन्वयः– भृंगार्चिकम् तु मौनम् स्यात् स्वरस्फोटे हि अचार्चिकम् भवति। स्वारम् प्रभावितम् भवेत च मूर्धा शुद्धिः जायते।

भावार्थ– अक्षर-अर्थात् जिसका क्षय नहीं होता, वही नाद है। नाद का दूसरा रूप स्वर-और स्वर से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाक्य। वाक्य से जगत् व्यवहार जो नादाधीन है। इस प्रकार वैखरी से जिन वर्णों का उच्चारण होता है। वे सभी अपनी सस्वरता के साथ कुम्भक, रेचक प्रक्रिया की मुद्रा में नाद में ही विलीन हो जाते हैं। भृंगार्चिक का सस्वर पाठ भी होता है। जो उसकी वैखरी का सूचक है; और उसका मौन पाठ जो होता है वह मध्यमा वाक् का सूचक होता है। परन्तु भृंगार्चिक को मौन कहा गया है उसका तात्पर्य यह होता है कि भृंगार्चिक में पूर्ण वैखरी का अभाव होता है। जिसके कारण उसका उच्चारण मनुष्य की वैखरी से अधिक शक्तिशाली और शुद्ध होता है; क्योंकि उसमें कुवाक्य का प्रयोग नहीं होता। मनुष्य तो कुवचन का भी प्रयोग आवेश में कर बैठता है। कीटभृंगी में केवल लक्ष्य के अनुसार मात्र अर्चना से तात्पर्य होता है। उसमें आवेश का अत्यन्ताभाव होता है।

दूसरी बात यह है कि कीटभृंगी में षड्देशीय वैखरी के स्थान पर उसका मुख एकाचकीय–एकदेशीय होता है। जबकि मनुष्य का मुख बहुदेशीय होने के कारण वह बिखरा हुआ होता है वह जल्दी एकाचकीय नहीं हो पाता। उसका मूल कारण है कि मनुष्य षड्विकार और दोषमय वृत्तियों के अधीन हो जाता है। इस प्रकार जैसे कोई संगीतज्ञ तान-आलाप के प्रदर्शन की प्रवृत्ति में आसक्त होने के कारण केवल सप्त शुद्ध व पंच विकृत स्वरों के प्रदर्शन का आदी बन जाने के कारण षड्जार्चन में युक्त नहीं होता। यदि संगीत स्वर साधक अन्तर्मुखी भाव से षड्जार्चन में कुम्भक रेचक माध्यम से केवल षड्ज स्वर में अपनी स्थिति बना ले तो निश्चय ही उसका आध्यात्मिक विकास के साथ संगीत की गर्भ भूमि में प्रवेश असम्भव नहीं।

अस्तु कीटभृंगी को इस श्लोक में जो मौन कहा गया है। उसका मूल कारण है कि उसमें मूर्धा तालु दंत्त ओष्ठ का अभाव। उसमें कण्ठ और नाशिका

यही दो देश होते हैं। चूँकि कण्ठ अकार देशीय होता है इसलिये कीटभृंगी में ब्रह्मनाद शक्ति का समावेश होने के कारण सूर्य सहित सौरमण्डल की पूरी शक्ति उसके नाद में होती है। कीटभृंगी का अनुगञ्जन केवल कण्ठ और नासिका से होता है। इसलिये उसके वर्ण रहित नाद का लोँप होने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि लोप वर्णों का नाद में होता है।

इस प्रकार से आर्चिक की परिभाषा दो प्रकार की हो जाती है। इस संदर्भ में ऊपर कहा जा चुका है कि कीटभृंगी अगर्भित रूप से एकाचकीय होता है और स्वर वेत्ताओं को एकाचकीय होने का अभ्यास करना पड़ता है।

मनुष्य जब एकाचकीय अर्थात् षड्जार्चन से जुड़ता है तभी मूर्धादि देशों की शुद्धि होती है। क्योंकि जब तक वह सब पैशों के प्रयोग से जुड़ा रहता है तब तक उसका वह प्रयोग होता है उसमें उसकी अर्हता ही दिखाई पड़ती है। वह अर्चना की श्रेणी में नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार संगीतज्ञ को चाहिए कि पूर्व वैखरी देश को अचार्चिक स्वर पद्धति के अनुसार साधन द्वारा शुद्ध करे न कि अर्हता में आकार उपासना के लक्ष्य से पृथक हो जाय।

टिप्पणी– मुनेः भावः मौनम्– जो स्वर साधन की पराकाष्ठा में पहुँच जाते हैं वे परादेश में पहुँच कर मौन हो जाते हैं। इस प्रकार सतत् मननशील को मुनि कहते हैं। जो कि मध्यमा वैखरी के उपयोग के बिना ही इच्छा मात्र से जन कल्याण करते रहते हैं। वे सदा प्रकृतिस्थ भाव से अभेद एकाग्रचित्त हो जाते हैं। इसी प्रकार से कीटभृंगी भी एक स्वर की आराधना में एकाग्रचित्त हो केवल अपने लक्ष्य की सिद्धि में अनुगञ्जन करती रहती है।

वास्तव में कीटभृंगी का निर्देश मनुष्य के लिये ही है। जो अपनी शुद्धि और कर्तव्य परायणता के साथ साथ मनुष्य के लिये लक्ष्य रूप से सिद्ध हो रही है जो सतत् शुद्धि और जन पर्यावरण के लिये अभ्यासरत है। मनुष्य तो उससे ज्यादा विकसित है वह क्यों न सतत् जन पर्यावरण कल्याण हेतु अभ्यास करे। और परादेश में पहुँच एकाग्रचित्त हो यह साक्षात्कार करे कि

"तैस्मितज्जने भेदाभावात्" यह सूत्र ईश्वर, मनुष्य, कीट, पतंग, पशु, पर्वत, नदी, जंगल सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इत्यादि सब में अभेदत्त्व को सिद्ध करता है। कीटभृंगी का अनुगञ्जन इसी का निमित्त है।

मूर्धानम् घर्षयन् वायु नाभ्यारभ्यवहिर्भवेत्।
प्रभवन्ति स्वराः सर्वे सदा मौन समाश्रयात्।।११।।

अन्वयः– वायुः नाभ्यारभ्य मूर्धानम् घर्षयन् वहिः भवेत्। सदा मौन समाश्रयात् स्वराः प्रभवन्ति।

भावार्थ– वायु नाभि से आरम्भ होकर मूर्धा का अभिहन करती हुई प्रदूषणों के सहित महाकाश में विलीन हो जाती है। जिसके वैखरी देश में पश्यन्ती के योग से नाद स्फुट होता है। इस प्रकार मौन वृत्ति का आश्रय लेकर एकाग्रता के साथ स्वर साधन मन्त्र जप प्रवचन संभाषण करना चाहिए। अस्थिर चञ्चल चित्त से किया गया साधन-प्रयोग सफलता के उच्च शिखर पर पहुँचाने में असफल और बाधक होता है। उसमें न आनन्द का स्फुरण आह्लाद होता है न ज्ञान की कोई प्रेरणा। और लक्ष्य सिद्धि की कोई साधन ही।

मौन स्वर साधन में आध्यात्मिक विकास होता है। मौनता का अर्थ होता है जन मञ्च पर अपनी अर्हता व कुशलता का प्रदर्शन न करना केवल लक्ष्य सिद्धि के लिये स्वर साधन मन्त्र जप करते जाना। मौनता का यह भी एक अर्थ होता है। कि सब कुछ गुरू शिष्य के माध्यम से प्रकृति ही करती है गुरू शिष्य भी प्रकृति ही है। यही ज्ञान अभिमान रहित दिशा प्रदान करने में सक्षम है।

संशोधिता मयां ग्रन्थे स्वर साधन पद्धतिः।
साम्प्रतम् कीटभृंगिभिः प्रेरितः मौनवर्णने।।१२।।

अन्वयः– साम्प्रतम् मौन-वर्णने कीटभृंगिभिः प्रेरितः (अभवम्) ग्रन्थे मया स्वर साधन पद्धतिः संशोधिता।

भावार्थ– ग्रन्थ लिखने का मूल श्रोत कीटभृंगी नामक उड़ने वाला कीड़ा है। इसके गुरुत्व और विज्ञान से मैं प्रभावित हुआ हूँ। उसी कीटभृंगी से प्रभावित होकर कीटभृंगार्चिकम् नामक ग्रन्थ की रचना करने के लिये प्रेरित हुआ। ग्रन्थ में स्वर साधन की विशिष्ट वैज्ञानिक और ज्ञान गर्भित पद्धति को संशोधित किया। संगीत के स्वर ज्ञान की गंगा है। संगीत का स्वर ज्ञान की भूमि ज्ञान मोक्ष विषयक त्रिवेणी है। संगीत का स्वर ज्ञान अमृत पद सूचक है। इस प्रकार कीटभृंगी के नाद में शक्ति, भाव, अर्थ, सृष्टि सब कुछ प्रयुक्त होता है। कीटभृंगी के अनुगुञ्जन में झिल्ली अभय होकर मन्त्र मुग्ध अवस्था में उस नाद का अर्चक बन जाता है वह परिवर्धित हो जायगा इसकी उसे चिन्ता नहीं रहती। झिल्ली की आवाज झंकार और जवारी युक्त होती है। जवारी ही नाभि प्रदेशीय होती है। उर्ध्वदेशीय अभिव्यक्ति में जवारी झंकार दोनों नहीं होते। जहाँ झंकार व जवारी होती है वहाँ एकाग्रता तो सहज ही हो जाती है। इस प्रकार झिल्ली अपने द्वारा प्रयुक्त नाद से स्वयं ही एकाग्र हुआ होता है और भृंगी के चंगुल में आ जाने से भृंगी के नाद को आश्चर्यवत् श्रवण कर के उसका अर्चक बन जाता है एकाचकीय आर्चिकता कीट यानि झिल्ली व भृंगी दोनों में हो होती है। झिल्ली भृंगी के अनुराणित अनुगुञ्जन में एकाग्र होकर भृंगी का ही रूपक बन जाता है। इसका प्रयोग आज भी द्रष्टव्य है। भृंगी ब्रह्मा है और कीट नाद प्रेमी है। जहाँ प्रेम होगा वहाँ भय द्वेष रहता ही नहीं।

नाभ्याकाशः हृदाकाशः मूर्धाकाशस्तथैव च।
अचार्चिकम् समाभ्यासात् सर्वैशुध्यन्तितन्तवः।।१३।।

अन्वयः– नाभ्याकाशः हृदाकाशः तथैव मूर्धाकाशः अचार्चिक समाभ्यासात् सर्वे शुध्यन्ति तन्तवश्च (शुध्यन्ति)।

भावार्थ– नाभ्याकाश-अर्थात् समझने के लिय उसी को परादेश माना गया; जिसे पूर्व स्थिति के अनुसार परावाक् कहते हैं। सृष्टि के पूर्व में परा, पश्यन्ती, मध्यमा वैखरी ये सभी वाक् अगर्भित हैं परन्तु देह जन्म के पश्चात्

भी ये सभी वाक् अजन्मज ही होते हैं; क्योंकि आकाश का जन्म नहीं होता; अर्थात् आकाश जन्म नहीं लेता। अस्तु नाभ्याकाश ही परादेशीय परावाक् है। और हृदाकाश अर्थात् पश्यन्ती वाक् में स्थित इच्छा रूप ज्ञान गम्य की भूमि जो अभिव्यक्ति की श्रेणी में आती है। उसे हृदाकाश कहते हैं। आकाश में ही ज्ञान रूपी शान्ति स्थिति होती है क्योंकि सभी शब्द वाक् स्वर वर्ण आकाश रूप ही होते हैं।

मूर्धाकाश– जो कण्ठ देश से लेकर सम्पूर्ण वैखरी देश तक प्राकृत शुद्धि, व कुन्दता विकृति से संबंधित है। उसी को मूर्धाकाशीय वैखरी व कण्ठ देशीय मध्यमा वाक् कहते हैं। वास्तव में मध्यमा और वैखरी वाक् उस 'परा' के वाद्य है जो पश्यन्ती में होने वाली इच्छा के अनुसार अनुरणित होने लगते हैं। अनुरणन का कार्य मध्यमा और वैखरी में ही होता है।

प्रकृतेः ज्ञानमादायवतर्तव्यम् स्वजीवने।
एषका मौन मालम्ब्य करोति सततं क्रियाम्।।१४।।

अन्वयः– प्रकृतेः ज्ञानम् आदाय स्व जीवने आवर्तव्यम् एषका मौनम् आलम्ब्य सततं क्रियाम् करोति।

भावार्थ– प्रकृति से ज्ञान लेकर उसको अपने जीवन में उतारने हेतु इस ग्रन्थ का निर्देश है। जिसमें प्रयत्नशील रहकर प्रकृति चिन्तन करते हुए सतत उसका अभ्यास करते रहना चाहिए। वैसे एकाग्रता व मनोनिग्रह के लिये संगीत स्वर साधन जैसा अन्य कोई अवलम्ब उपयुक्त नहीं होता। क्योंकि मन को रोकने के बाद ही चिन्तन सम्भावित है। यह विदित है कि प्रकृति की भाषा मौन है प्रकृतिस्थ होना सहज नहीं है। चूंकि स्वर साधन में कुम्भक रेचक प्रक्रिया में प्राणवायु रुकती और निकलती रहती है जो प्राणवायु रुकी हुई स्थिति में होती है वह शुद्ध प्राणवायु होती है जो प्राणवायु एकाचकीय ठहराव के साथ निकलती रहती है उससे आभ्यान्तरिक प्रदूषण बाहर निकलता रहता है। अर्थात् कुम्भकीय शुद्ध वायु के साथ मन का ठहराव स्वाभाविक हो जाता

है। संगीत के स्वरों का जो माहात्म्य है वह इसी प्रकार से है कि प्रकृतिस्थ ज्ञान सम्वाद के लिये सर्वप्रथम स्वर साधन करना आवश्यक है यह भागवत् और भगवत् का आदेश और आशीर्वाद है। ज्ञान न तो जोर जबरन से होता है न उसे ठूँसा ही जा सकता है। इसलिये मन को एकाग्र करने के ही लिये संगीत में स्वर साधन का महत्व है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में मन प्राण को समर्पित होकर सो जाता है वह इस अवस्था में स्वप्न भी नहीं देखता। चूँकि सुषुप्ति में स्वप्न होता ही नहीं इसीलिये कहा गया कि मन प्राणाधीन होने के कारण स्वर के ठहराव के साथ वह केवल कर्णेन्द्रिय से युक्त होकर एकाग्र होने लगता है। इसी साधन को परम प्रेम रूप अमृत स्वरूपा भक्ति कहते हैं। क्योंकि भक्ति की भूमि अनुमानित नहीं। क्रियात्मकता से होती है। चूँकि भक्ति अनुमानित होती भी नहीं वह साक्षात्कार विषयक है। भक्ति साधन युक्त होती है उसमें मूढ़ता नहीं होती। क्योंकि भक्ति और ईश्वर आनन्द कोषीय है जिसमें ईश्वर मन्त्र है क्रिया और साधन उसमें भक्ति है। जप और आवर्तन स्वर और शब्द का होता है। स्वर और शब्द ही मन्त्र है।

स्वरान्तरस्य कल्याणे चैषा मूल सजीवनी।
मोदन्ते पितरस्तेषाम् येऽभ्यासेषुसदारताः।।१५।।

अन्वयः- स्वरान्तरस्य कल्याणे एषा मूल सजीवनी (अस्ति) ये अभ्यासेषु सदा रताः तेषाम् पितरः मोदन्ते।

भावार्थ- स्वरान्तर-संगीत साहित्य भूमि में इसका स्थान चौथा है। शास्त्रीय संगीत में रागों की अभिव्यक्ति में विलम्बित (खयाल) मध्य द्रुत लय के अन्तर्गत जो प्रस्तुतीकरण मञ्चादि पर हो रहा है। तथा ध्रुव पद धम्मार का प्रचलन जो अब आंशिक हो गया है। ठुमरी नामक गायन शैली पचार में वह भी अब आंशिक हो चली है। इन गायन शैलियों के पूर्व में जाति गान का अधिक प्रचार था। जातिगान से पूर्व में अधिक प्रचार सामिक गान अर्थात्

सामगान का प्रचार था। उस समय जातिगान ध्रुवपद धम्मार-विलम्बित ख्याल ठुमरी कुछ भी न था। इन्हीं सब गायन शैलियों में प्रयुक्त हुए स्वर को स्वरान्तर नाम से जाना गया है।

आज के युग में संगीत की पराकाष्ठा का ज्ञान शैली, अलंकार, तान, आलाप, नहीं। स्वर ज्ञान है। स्वर का ज्ञान ठहराव में है। हाहाकार में नहीं। हाहाकार में तो कुछ स्वर बेसुर का पता ही नहीं चलता केवल ताल पकड़ने का एक गणित ही किसी तरह से पूरित हो रहा है। स्वरान्तर का धरातल वैदिक है। परन्तु उसका उपयोग विकृत हो गया। विकृति में मनुष्य विकृत ही होता जाता है।

अस्तु स्वरान्तर में मौनता का तात्पर्य आधुनिक नहीं प्राचीन ही है। संगीत स्वर ज्ञान की पद्धति मूल संजीवनी है। जो वास्तव में सृष्टि ज्ञान विषयक है। इस प्रकार–जो अनवरत स्वर ज्ञान में तल्लीन रहते हैं। उनको पूर्वजों का ज्ञान हो जाता है और इस ज्ञान से पितर गण देव देव्य शक्तियाँ सदा साधक की रक्षा करते हुए गूढ़ से गूढ़ रहस्योद्‌घाटन करने की दिशा प्रदान करती रहती हैं।

टिप्पणी– स्वरान्तर जगत् की मूल संजीवनी जो सदा ही कल्याणकारी है। उसका स्थान चौथा व वैखरी प्रधान है। स्वरान्तर के साधन से वैखरी के सभी देशों की संशुद्धि हो जाती है जिससे कामादि दोष संवर्धन जनित साहित्य भूमि से साधक निवृत्त हो जाता है। और लोभ जनित व्यवसायिक परम्परा का अवसान हो जाता है। साधक की वैखरी देश से सभी षड्‌विकार एकाचकीय हो षड्‌ज साधन की ज्वाला में भस्म हो जाते हैं। स्वरान्तर जगत जो राग ताल अलंकार तान आलाप कणमुरक गमक मीड़ बल जोड़ प्रकारों से स्फुरित हो रहा है यह प्रकृति की क्रियात्मकता व उसी का वैभव है। इसी को जान लेना प्राकृत ज्ञान है। जो स्वरांतर के लिये कल्याणकारी है।

रागों की अभिव्यक्ति अनपढ़ लोग भी करते हैं। उन्हें तालादि की अच्छी जानकारी होती है। रागों की अभिव्यक्ति में संस्कृत भाषा व्याकरण साहित्य

शुद्ध उच्चारण सुपाच्य सुखाद्यादि नियम संयम श्लोक मन्त्र पाठ यज्ञ कर्मों में अनुरत विद्वानों का उच्चारण ही शास्त्राधीन होता है। विद्वान और कलाकार में क्या अन्तर हो सकता है इसको कहने की आवश्यकता नहीं। संगीतज्ञों को स्वर की संगति करनी चाहिए। स्वर की संगति से सुरगण भी प्रसन्न होकर विघ्न बाधाओं को दूर करते रहते हैं।

मूल संजीवनी– जिस प्रकार संगीत के स्वरों में कायाकल्प करने की शक्ति, अमृत रस, औषधि विद्यमान प्रमाणित है। उसी प्रकार संजीवनी औषधि भी प्राणवान करने में सक्षम है। संजीवनी की पहचान अनुमान से नहीं की जा सकती। उसी प्रकार स्वर का ज्ञान भी अनुमानित नहीं है। संजीवनी को केवल सुखेन वैद्य ही पहचानते थे। अस्तु प्राणवान करने वाली मूल संजीवनी की शक्ति अधिक बलशाली है; क्योंकि लक्ष्मण जैसे शेषावतार को प्राणवान्वित किया है। इस प्रकार मूल संजीवनी का अमृत रस व नादामृत रस की शक्ति जो कायाकल्प करती है दोनों ही प्रकृति की सूक्ष्मांश शक्ति है। संजीवनी को लाने वाले हनुमान जी थे। ये जो अनुमान के शिकन्जे में आने के कारण पूरे पर्वत खण्ड को उठा लाये थे।

नृत्यन्ति देवताः स्वर्गे विलोक्यै तादृशीं क्रियाम्।
नक्षत्रान्यनुकूलानि पञ्चभूतानि सर्वशाः।।१८।।

अन्वयः– एतादृशीम् क्रियाम् विलोक्यै स्वर्गे देवता नृत्यन्ति नक्षत्राणि पञ्चभूतानि च सर्वशः अनुकूलानि (भवन्ति)।

भावार्थ– संगीत का माहात्म्य आत्मज्ञान के साथ प्रसन्न मुख मुद्रा है क्योंकि जब भी स्वर साधन या गायन प्रस्तुत (अभ्यास) किया जाता है; प्रसन्न मुख मुद्रा में। संगीत के स्वरों में जनकल्याण की भावना का सम्वर्धन सुनिश्चित है। स्वर साधकों को इसका ज्ञान हो जाता है कि मनुष्य की देह यन्त्र स्वरूप है। इस देह में सभी देव और पञ्चभूत सूर्य चन्द्र ही क्रियारत हैं। स्वराभ्यास, यन्त्र पाठ में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी अग्नि वायु आकाश ही परा,

पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी माध्यमों में क्रियारत हैं। इसी ज्ञान प्राप्ति से जो देवताओं का सूक्ष्मांश स्वर्गलोक में है। वे प्रसन्न मुद्रा में नाचने लगते हैं। उनके नाचने का लाभ देहस्थ देवता इस प्रकार करते हैं कि दुष्पाच्य कुखाद्य सेवन में जो जठराग्नि से लेकर जिह्वा तक घ्राणादि में देहस्थ देवताओं को कार्य करना पड़ता है दुष्प्रवृत्ति का वे त्याग कर देते हैं, जिससे देहस्थ सभी यन्त्र काया परिवर्तन के कारण सात्विक हो जाते हैं। अर्थात् "ततः वैनिर्मुक्तः सिद्धो भवति मत्तो, भवति स्तब्धो–भवति" का अर्थ उन देहस्थ देवताओं में लागू होने के कारण वे अत्यन्त ही सुखाद्य सुपाच्य पदार्थों के सेवन को ही स्वीकार्य करते हैं। इस प्रकार से होना कोई रोग नहीं है। इस श्लोक में नृत्यन्ति देवताः का यही आध्यात्मिक पक्ष है जिसकी प्राप्ति संगीत के स्वर साधन से (उपलब्ध) होती है। वह भी केवल षड्जार्चन से। इस प्रकार से काया परिवर्तन से साधक के अज्ञान का अवसान हो जाता है। संगीत जगत में स्वरान्तर का यही माहात्म्य है।

टिप्पणी–सृष्टि में समष्टि और देहस्थ देवताओं की सृष्टि अगर्भित है। सूक्ष्मांश लोक ही स्वर्ग लोक है। सूक्ष्मांश लोक का स्पर्श नहीं होता। क्योंकि अग्नि का सूक्ष्मांश अग्नि से नहीं जलता। इसी प्रकार पानी का सूक्ष्मांश उससे नहीं भीगता। वायु उसे उड़ा नहीं सकती। पृथ्वी न उसे दबा सकती है न उसे स्पर्श ही कर सकती है। इसी प्रकार आकाश से भी जो विलक्षण है वही सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सबका सूक्ष्मांश स्पर्शायोग नाद बिन्दु आत्मा है।

गायत्री मन्त्र के अनुसार भुवः का अर्थ अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष को ही स्वर्ग कहा गया है, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त इस प्रकार का अन्तरिक्ष होता है। इसी अन्तरिक्ष को स्वर्ग लोक कहा जाता है। भुवः का यही अर्थ बनता है। और 'भूः' प्रत्यक्ष पृथ्वी लोक है। स्वः का अर्थ जो बनता है वह भुवः और भूः में निर्लिप्त व्याप्त है। वही अकल्पित आत्मा है। सृष्टि में आत्मा अकल्पित है। आत्मा ही नाद बिन्दु है। इसी नाद बिन्दु का विस्तार सृष्टि है। सृष्टि में द्रष्टव्य सभी पदार्थ आत्मबिन्दु की कला हैं। स्वयमात्मबिन्दु निश्कल है। इसी

पर एक श्लोक है। "आत्माविनिश्कलेह्योको देहोबहुभिरावृतः"। इस श्लोक के अनुसार देह आवृतवान है वह कलायुक्त है क्योंकि देह कला है। आत्मा निश्कल है। क्योंकि देह की सृष्टि होती है आत्मा कई पदार्थों से नहीं बनता। वह स्वयं है। इसी प्रकार से मनुष्य देह से संगीत कला की अभिव्यक्ति होती है। जैसे पूरी सृष्टि देह सहित आत्मा में अध्यस्थ है, उसी प्रकार आत्म स्वरूप नाद बिन्दु संबोधन में संगीतकला अध्यस्थ है। जिसमें स्वर, शब्द, अक्षर, लय, ताल नाम से जाने जाते हैं। ये सभी नाद के आवर्तक और आवरण हैं। ये सभी आवरण अनुभवगम्य हैं। सुनने में आते हैं। मुख देश और हाथ से इनकी अभिव्यक्ति होती है परन्तु इनका कोई देह की तरह रूप नहीं दिखता अर्थात् पवनगति रेचो विसराति की बात सिद्ध होती है। अग्नि का रूप होता है परन्तु अग्नि के सूक्ष्मांश का कोई रूप नहीं होता अस्तु संगीत स्वर की अभिव्यक्ति में अग्नि का सूक्ष्मांक ही प्रयुक्त होता है संगीत में। इस लिये संगीत के स्वरोच्चारण में अग्नि के रूप का लेप रहता है। उसी प्रकार जलतत्त्व वायु इत्यादि का भी लोप रहता है।

इन्द्रियस्थाः सुरा सर्वे विषयान् तर्जयन्ति हि।
भवेदाध्यात्मिकम् ज्ञानम् ब्रह्मरूपश्चसो भवेत्।।१७।।

अन्वयः- सर्वे इन्द्रियस्थाः सुराः विषयान् तर्जयन्ति (एतेन) आध्यात्मिकम् ज्ञानम् भवेत् सः ब्रह्मरूपश्च भवेत्।

भावार्थ- मौन वृत्ति प्राप्ति के पूर्व ही इन्द्रियों पर अधिष्ठित देवता विषयजन्य दुष्प्रवृत्तियों के आधिपत्य से उनके दबाव से परित्यक्त हो जाते हैं। ऐसा जो कुछ भी होता है वह इसलिये कि कायाकल्प ही एकत्व चिन्तन का कारण बनता है। सतोगुण की अभिवृद्धि में सभी अष्टधातुओं की संशुद्धि हो जाती है। वे सभी परिवर्तित धातुएँ दुष्प्रवृत्तिसूचक विचारों को पुनः उत्पन्न नहीं होने देतीं। अर्थात् विचार संशोधन धातु शुद्धि के कारण खाद्य सामग्रियों से लेकर पूर्णतः पूर्व का कायाकल्प हो जाता है।

इस प्रकार "ब्रह्मविद वैष्णैव भवति" के अनुसार वह स्वर वेत्ता मननशील मौन स्वरूप आध्यात्मिक ज्ञानी ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

टिप्पणी– कोई ब्रह्मरूप नहीं हो जाता केवल व्याख्या में ऐसी बात कह दी जाती है और लिखी भी जाती है क्योंकि साहित्य की अभिव्यक्ति ब्रह्म ज्ञान की तरफ संकेत करने वाली सामग्री मात्र है। ब्रह्म एक है। केवल उस ब्रह्म का ज्ञान दर्शन होता है। इसी पर यह कहा जाता है कि अमुक ब्रह्म के समान हो गया या हो जाता है।

सृष्टि सम्पादने शक्तिः काय संशोधनम् तथा।
करोत्यचार्चिकाभ्यासी भृंग्या च शिक्षितः।।१८।।

अन्वयः– कीट भृंग्या च शिक्षितः (जनः) अचार्चिकाभ्यासी काय संशोधन करोति सृष्टि सम्पादने शक्तिः (आप्नोति)।

भावार्थ– कीटभृंगी के द्वारा प्रयुक्त सृष्टि रचना से शिक्षा प्राप्त कर अचार्चिक के आर्चिक साधन में अनुरत साधक काया सहित संपूर्ण अविद्यक विचारों को संशोधित कर लेता है कर भी देता है। तथा सृष्टि रचना व्यवस्था जान कर उपरामता के साथ दुख द्वन्द्व भ्रम भय से मुक्त-स्वतन्त्र हो जाता है।

यथाकायान्तरम् धत्तेः कीटभृंग्यासुनादितः।
एवम् मन्त्रस्य जाप्येन कायान्तरमुपासते।।१९।।

अन्वयः– भृंग्या सुनादितः कीटः यथा कायान्तरम् धत्ते एवम् मन्त्रस्य जाप्येन (मनुष्यः अपि) कायान्तरमुपासते।

भावार्थ– कीटभृंगी के अस्फुट नाद से जिस प्रकार कीट (झेंगुर) कायान्तर प्राप्त करता है उसी प्रकार मनुष्य भी स्वर साधन ज्ञान सहित मन्त्र जाप से कायान्तर को प्राप्त हो जाता है। जिसमें सस्वर अक्षराणामकारः का विशेष महत्व है। संगीत की आध्यात्मिकता की यह धुरी है जो स्वरों का सातवाँ देश नाभि से चलकर सम्पूर्ण मुख देश को सस्वर और शुद्ध करता है।

टिप्पणी- इस श्लोक के सन्दर्भ में मनुष्य के कायान्तर में देह यही रहती है केवल वह विचारों सहित अमृत ज्ञान तत्त्व का अधिकारी बन जाता है। वैखरी देश से लेकर सभी स्नायु तन्तुओं का संशोधन हो जाता है। और विदेह ज्ञान दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार भृंगी का नाद कीट (झिल्ली के अर्चना का प्रमुख श्रोत है)।

अतोऽचार्चिकम् ज्ञेयमनुकर्त्तव्यम् सुहासुभिः।
चैवम् प्रकृतिव्यवस्थाः दर्शनीयास मन्ततः।।२०।।

अन्वयः- सहासुभि अचार्चिकम् ज्ञेयम् अनुकर्त्तव्यम् एवम् समन्ततः प्रकृतिव्यवस्था दर्शनीया।

भावार्थ- प्राणपण से अचार्चिक विधान के अन्तर्गत एकाग्रता के साथ षड्ज स्वर बिन्दु-श्रुति में स्थित हो सस्वर ब्रह्मनाद का श्रवण करना चाहिए। इस ध्यान साधन से प्रकृति ही क्रियारत है इसका ज्ञान हो जाना ही स्वर ज्ञान की पराकाष्ठा है। संगीत में यही उपदेय भी है। संगीत क्षेत्र में स्वर साधन की यही उपदेयता है।

टिप्पणी- स्वर मन्त्रों की आर्चिकता में वृत्ति एवम् विकार भी प्रकृति ही है क्योंकि इसकी आवश्यकता भी है। वृत्ति ही प्रजननवादी शक्ति है। विकार भी शक्ति है "अथातोऽविद्यानुशानम् अविद्याप्रजननद्धेतुः" अविद्या ही प्रजनन का हेतु है परन्तु वह अनुशासनबद्ध है। अविद्या में परत्व को मानना और यह मानकर उसके स्पर्श के साथ आसक्त होना यह द्वैतबद्ध आगंतुक दोष वृत्ति और उसी आगन्तुक का विकार है। अविद्या आगन्तुक नहीं है। आगन्तुक तो विकार जनित दोष है। अविद्या में जिन आगन्तुक दोषों का प्रवेश होता है विद्या उसका निष्कासन करती है। विद्या का अर्थ होता है पढ़ना और स्वर साधन करना तदुपरान्त साक्षात्कार और चिन्तन करना। परन्तु किसका साधन करना और किसको पढ़ना। अविद्या शब्द में 'अ' को। जो कि विद्या

का आवरण रूप है। वास्तव में जो आवरण रूप है वही 'अ' "अक्षराणामकारः है।" जो वास्तव में प्रजनन का हेतु है और जो सृष्टि और स्रष्टा दोनों ही है। इसी को अविद्या कहते हैं।

उपांशु जप संसिद्धौ षड्स्थानम् निरामयम्।
भवति मन्त्र व्याजेन तत्तस्थानम् विशोधयेत्।।२१।।

अन्वयः– उपांशु जप संसिद्धौ मन्त्र व्याजेन षड्ज स्थानम् निरामयम् (भवति) अतः तत् स्थानम् विशोधयेत्।

भावार्थ– समीप में बैठे व्यक्ति को स्पष्ट अक्षर सुनाई न पड़े किन्तु उच्चारण होता रहे। इस प्रकार के जप को सिद्ध करने में वह मन्त्र षड्जस्थानीय के साथ एकाचकीय हो जाता है। जिसमें उदात्तानुदात्त और स्वरित का अभाव होता है। इस प्रयोग से मुख देश के षड्तन्तुओं में अपना दबाव रखने वाले आपातवत् विकार जो स्वर-श्रुतिबिन्दु से च्युत करने में सहायक होते हैं। मन्त्र प्रभाव से उनका समापन असम्भव नहीं होता। अतः अन्तःकरण एवम् हृदय कण्ठ मुखदेश की संशुद्धि के लिये लक्ष्य सहित स्वर साधन और मन्त्र जप करना अभीष्ट है। तभी मुखदेश के साथ साथ अन्य सभी देशों के उच्चारण शुद्ध सिद्ध एवम् अनुरणनात्मक हो जाते हैं।

टिप्पणी–उपांशु जप में अघोषि प्रयत्न होता रहता है। इस प्रकार उपांशु जप मध्यमागत होता है किन्तु वैखरी का अघोषित प्रयत्न रहता ही है क्योंकि उसमें अधर प्रयत्नशील रहता है केवल वह मूर्धा कण्ठादि देशों से घोषित नहीं होता। इस प्रकार की अर्चना उच्चारण मन्त्रपाठ को उपांशु जप कहते हैं और उपांशु जप का देश वैखरी देश से लेकर मध्यमा वाक् तक है। मध्यमा वाक् ही उपांशु जप का सिद्ध देश है।

पद्धतीयञ्च पूर्वेषाम् मन्त्रयुक्तम् जपम् भवेत्।
मौनम् स्पष्टाक्षरञ्चैव सरलाराज मार्गवत्।।२२।।

अन्वयः- पूर्वेषाम् च इयम् पद्धतिः (यत्) मौनम् स्पष्टाक्षर मन्त्रयुक्तम् जपम् भवेत् राजमार्गवत् (इदम् पद्धतिः) सरला (अस्ति)।

भावार्थ- पूर्व मनीषियों की यही पद्धति रही कि मौन उच्चारण को भी प्रभाव युक्त देखा गया। जो राजमार्ग की तरह सरल और सहज होता है। मौन जप को वही ईष्ट सुनता है जो सस्वर को सुनता है। इस प्रकार मौन जप से यह सिद्ध हो जाता है कि सूक्ष्म देव जिसे कान, आँख इत्यादि नहीं है मौन जप करने वाले श्रद्धालु साधक को उसके अनुकूल फल वही प्रसादित करता है। उसका फल क्या है शाब्दिक अर्थ अघोषित ध्वनि की एकता का ज्ञान तथा उस जप से यह सिद्ध हो जाता है कि काम, क्रोधादि दोष से अनुप्राणित वाक्य समूह अधरवत् भी नहीं होते। मौन जप का यही प्रभाव स्वानुभव में प्रकाशित होता है। सभी दोष नादगत हो जाते हैं। यही वह आर्चिक पद्धति है जिसमें प्रदर्शन का बल नहीं अर्चना बल अनुगुञ्जित होता है।

यथादंशः कीटभृंग्या तथा संस्कार वेशनम्।
पश्चान्मत्रनिनादेन चान्योभवति वैध्रुवम्।।२३।।

अन्वयः- यथा कीटभृंग्याः दंशः तथा संस्कारवेशनम् (भवति) पश्चात् मन्त्र निनादेन सः ध्रुवम् अन्यः भवति।

भावार्थ- जिस प्रकार कीट भृंगी के संस्कार (झेंगुर) कीट में प्रविष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार मन्त्र प्रभाव से देह में अनुप्रविष्ट आगन्तुक संस्कार तिरोहित हो जाते हैं। अर्थात् वह अपने पूर्व से अन्य तो हो जाता है और महान स्रष्टा वैज्ञानिक के साथ अनन्य भी हो जाता है। वह कीट से कीट भृंगी हो जाने पर उसमें अमृत रस के आगमन से रचना करने की पूर्ण क्षमता आ जाती है। जिससे उसके दंश से रचना करने वाला अमृत रस स्रावित होने लगता है।

घटानाम् पाक वेलायाम् कुते दृश्यते आर्द्रता।
संस्कार प्राप्यतेऽवसरे सर्वेदोषाः विलीयन्ते।।

घटानाम् पाकवेलायाम् द्रवमुक्तम् कणादि के।
संस्कारिके ततो जाते रक्तत्वादिः प्रकाशते।।२४।।

अन्वयः- घटानाम् पाकवेलायाम् कणादिके द्रवमुक्तम् (भवति) ततः संस्कारिके जाते रक्तत्वादिः प्रकाशते।

भावार्थ- घट-अर्थात् कच्चे मिट्टी के घड़े के संबंध में द्रवत्व संबंधी (विवरण) बात कणादिक में कही गई है। वही बात 'कीट' के संबंध में दर्शायी जा रही है कि उसके संस्कारित हो जाने पर झिल्ली (झेंगुर) में रक्तत्वादि सभी गुण उसमें आ जाते हैं और अपनी संकुचित वैखरी व मध्यमा वाक् से वह प्रयोगात्मक निनादर्जन व अपने दंश से अमृत रस दूसरे कीट में स्रावित करने लग जाता है।

घटस्य पाकवेलायाम् दृश्यते नैव चार्द्रता।
संस्कारो जायते तस्मिन् लीयन्ते सर्व दोषकाः।।२४।।

अन्वयः- घटस्य पाकवेलायाम् आर्द्रता नैव दृश्यते। तस्मिन् संस्कारः जायते सर्वदोषकाः लीयन्ते।

भावार्थ- घड़े के पकते समय उसमें नमी नहीं दिखाई पड़ती किन्तु एक नवीन संस्कार उत्पन्न होता है उसके सभी दोष विलीन हो जाते हैं।

टिप्पणी- कच्चे मिट्टी के घड़े में द्रवत्व होने के कारण उसमें जल नहीं रखा जा सकता। उसमें निहित द्रवत्व को समाप्त करने के लिये उसको कुम्हार (आवें में रखकर पकाकर उसके संस्कार को समाप्त कर देता है तत्पश्चात् उस पके हुए घड़े में जल ठहरने की क्षमता हो जाती है। यही बात उस कीट भृंगी में भी है जो अपनी संकुचित वैखरी वाक् के निनादार्जन सहित दंश से अमृतरस को स्रावित करके झेंगुर के संस्कार को बदल देती है।

मन्त्रविषयक विज्ञाने विशिष्टैषा हि पद्धतिः।
फलरूपाभिसन्धित्वात् ज्ञायते मन्त्रशक्तिता।।२५।।

अन्वयः– मन्त्रविषयक विज्ञाने एषा विशिष्टा पद्धतिः मन्त्रशक्तिता फलरूपाभिसन्धित्वात् ज्ञायते।

मन्त्र विषयक विज्ञान में यह एक विशिष्ट पद्धति है कि मन्त्र शक्ति का अनुमान फलाभिसन्धि पूर्वक होता है फलाभिसन्धि अर्थात् प्रत्यक्ष प्राप्ति के पहले उसके पूर्व अनुमान रहता है। साहित्य जगत दर्शन में प्रत्यक्ष अनुमान आगम कुटुम्बी है। इनका अपना अपना कुटुम्ब है। इसमें प्रत्यक्ष जो भी दृष्टिगोचर है वह स्थूल है। स्थूल को देखना आँख का विषय है परन्तु उस स्थूल के अन्दर जो क्रियारत है वह स्थूल से सूक्ष्म शरीर है। इस प्रकार सूक्ष्म का विकास स्थूल है। जो नहीं दिखाई पड़ता वह करण है। जो दिखाई पड़ता है वह स्थूल है। इसलिये स्थूल के कारण देश में अनुमान किया जाता है परन्तु अनुमान ज्ञान में दृढ़ता का साक्षात्कार जब होता है तो अनुमान समाप्त हो जाता है। जैसा कि कहा गया है कि कार्य को देखकर कारण का पता हो जाता है। बछड़ा जो गाय का दूध पीता है वह बछड़े की माँ होगी। इस प्रकार की परिभाषा में गाय बछड़े की माँ होगी या उसकी माँ है। दोनों बातें सिद्ध होती हैं।

इत्थम् शब्दात्मिका शक्तिः मन्त्रादिशु प्रकाशते।
एतच्छक्त्यैव लोकेऽस्मिन् सिद्धयन्ति परमर्शयः।।२६।।

अन्वयः– इत्थम् शब्दात्मिका शक्तिः मन्त्रादिषु प्रकाशते अस्मिन् लोके एतत् शक्त्या एव परमर्षयः सिध्यन्ति।

भावार्थ– शब्दात्मिका शक्ति मन्त्रों में ही प्रकाशित होती है; क्यों कि मन्त्र सृष्टि में ऋषि भाषा है। इस लोक से लेकर परलोक तक मन्त्र का प्रवेश निर्विघ्न होता है। मन्त्रोच्चारण ज्ञान मोक्ष और संधानात्मक है। इसी मंत्र भाषा के प्रयोग से ऋषि लोग सिद्धि प्राप्त करते हैं जो जन पर्यावरण हिताय है। इहलोक का प्रकाश और श्लोक स्वरूप है।

प्रत्यपकण्ठ शुध्यर्थम् तम्बूरादौ समभ्यसेत्।

सम्वादम् श्रुतीनाञ्च साक्षात्कारः भवेध्रुवम्।।२७।।

अन्वयः– तम्बूरादौ प्रत्यपकण्ठ विशुध्यर्थम् समभ्यसेत् च श्रुतीनाम् सम्वादस्य ध्रुवम् साक्षात्कारः भवेत्।

भावार्थ– स्वर साधना प्रक्रिया के अन्तर्गत यह जब अवभाषित होने लगे कि स्वराभिव्यक्ति में सहजता नहीं है। अच प्रदेशों की कुन्दता के कारण कण्ठ देश स्थान भ्रष्ट एवम् क्षतिग्रस्त हो चुका है; तो उसका शल्य साधन क्या हो सकता है? जब साधक के उच्चारण प्रयोग में ऐसा प्रश्न बनने लगता है तो निश्चय हीं उसके कल्याण की बेला का आगमन हो जाता है। कण्ठ देशों में आगन्तुक दोषों अवरोधों को दूर करने सम्बन्धी साधन सामग्री का आश्चर्यवत् ढंग से अवतरण-आगमन उसमें होने लगता है। साक्षात्कार किसका? श्रुति अर्थात् नाद जो प्रकृति के योग से आहत-अभिव्यक्त होता है उसी अभिव्यक्ति को स्वर कहते हैं जो संगीतोपयोगी है। अस्तु कण्ठ के आपातों को दूर करना क्रिया पक्ष से जुड़ा है। इसके लिये तम्बूरा वाद्य के साथ बैठकर कण्ठ सुधार व उसकी सहजता के लिये प्रातः स्वर साधन करना चाहिए। यही शास्त्रीय व शाश्वत अभ्यास है। इसी प्रकार के साधन से श्रुति दर्शन सम्वाद शक्ति आत्मैक्य भाव का साक्षात्कार होने लगता है। श्रुति सम्वाद ज्ञान का यही अभिप्राय है कि "अकारो वासुदेवः स्यात्" अर्थात् नाभि से लेकर मूर्धा देश तक एकाकार की प्राप्ति हो जाती है। और स्वरित कुल में साधक की पकड़ बन जाती है। अस्तु विद्या अविद्या दोनों प्रकृति ही है।

टिप्पणी– कण्ठ देश के सहित सम्पूर्ण मुख देश में स्वरोच्चारण की अवरुद्धता एवम् स्वांस के ठहराव में अल्पता का मुख्य कारण प्रजननशील स्थूल सगुण अविद्या की स्फोट क्रिया में कुसंस्कार जनित आगन्तुक दोष हैं। जो भेद जनित परकीयता के सूचक हैं।

इस प्रकार अविद्या स्वरूप जो प्रकृति ही का ममत्व प्रधान स्थूल रूप है वह अविद्या अमृत रूप अतिरोहित है। अविद्या को दोष नहीं कहा जा सकता। दोष तो भेद जनित आगन्तुक रूप है। अविद्या तो प्रजननद्धेतुः है।

ध्वनिरूपे स्थितः शब्दः व्याप्नोति सकलं जगत्।
पाथोधिञ्च परिक्रम्य समष्टौ प्रविलीयते।।२८।।

अन्वयः- ध्वनिरूपे स्थितः शब्दः सकलं जगत् व्याप्नोति। पाथोधिम् परिक्रम्य समष्टौ प्रविलीयते।

भावार्थ- स्फोट रूप में स्थित स्वरशब्द जब ध्वन्यात्मक आवरणों से युक्त प्रस्फुटित होता हुआ शुद्ध वैखरी द्वारा संसार भर मे छा जाता है। तब चारों दिशाओं में फैले हुए समुद्रों की परिक्रमा करता हुआ वह सस्वर शब्द समष्टि के ज्ञान गर्भ में विलीन हो जाता है। अर्थात् एक विप्रा बहुधा वदन्ति की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि सृष्टि ब्रह्मात्मा का विवर्त और उसी की कला है। इसी सृष्टि से संगीत को कला नाम से जाना गया है।

यह सच है कि सृष्टि की संगति ब्रह्मात्मा से है। इसी संगति को लेकर संगीत शब्द प्रचलित हुआ। जिसके बारे में हम सभी सदा गीत गाते चले आ रहे हैं। वेद की ऋचाएँ भी उसी का गुणगान करती आ रही हैं। वेद की ऋचाओं में भी षड्ज मध्यम् व षड्ज पञ्चम् भाव सन्निहित होता है। और उसका संवाद आकर्षक प्रभावकारी ज्ञानरूप आनन्ददायक होता है। स्वरोच्चारण की परिक्रमा का अद्वय ज्ञान की प्राप्ति ही उसका अवशेष फल है।

तरंगित ध्वनौ शब्दे प्रकाशात्त्वरिता गतिः।
वाद्ययन्त्र समायोगात् लभ्यते च पुनः पुनः।।२९।।

अन्वयः- तरंगित ध्वनौ शब्दे प्रकाशात् त्वरिता गति भवति। वाद्य यन्त्र समायोगात् पुनः पुनः लभ्यते।

भावार्थ- सस्वर- ध्वन्यात्मक शब्द स्वर तरंगों में प्रकाश से भी तीव्र गति होती है। इसका साक्षात्कार विश्वास वाद्य यन्त्रों के प्रयोग से होता है। जैसे सूर्य बहुत दूर होता है; परन्तु मन्त्र स्वर शक्ति द्वारा की गई अर्चना को सूर्य सुन लेता है। और उसके उचित फल की भी प्राप्ति हो जाती है। यह

की गई अर्चना का शब्दार्थ है; परन्तु गूढ़ार्थ में तत्त्व वेत्ताओं को यह ज्ञान होने लगता है कि जो सूर्य समष्टि अर्थ में बहुत दूर रहकर सुन लेता है वही सूर्य हर घट में भी विद्यमान होकर अखण्ड अविनाशी परम सत्ता का स्वयं अर्चक भी है। निश्चय ही इस ज्ञान से द्वैत भाव जनित स्वार्थ निवृत हो जाता है। प्रकृति पुरुष नामक शब्द में उपरोक्त प्रमाण ज्ञान साक्षात्कार विषयक अद्वैत सूचक है। और स्वर, शब्द, काव्य में रेचक रूप में सूर्य क्रियाशील रहता है। क्योंकि षड्ज ऋषभादि स्वरों की अभिव्यक्ति में सूर्य ही देहस्थ प्रदूषणों को स्वरों की सस्वरता के साथ रेचक द्वारा बाहर करता है।

अचार्चिकम् तत्तुविज्ञेयम् स्वीरते यद्धि लीयते।

उदात्तम् चानुदात्तञ्च दीर्घम् हृस्वम् प्लुतम् तथा।।३०।।

अन्वयः- यत् ही स्वरिते लीयते तत्तु आर्चिकम् विज्ञेयम्। उदात्तम् अनुदात्तम् दीर्घम् हृस्यवम् तथा प्लुतम् स्वरिते प्रविलीयते।

भावार्थ- जिसका स्वर साधन सृष्टितत्त्व बोध के साथ स्वरित में लय हो जाता है, उसे ही आर्चिक विज्ञान रहस्य समझ में आ जाता है। क्योंकि उसी स्वर में हृस्व दीर्घ प्लुत भी लीन हो जाते हैं। यही सृष्टि की आहत प्रक्रिया का ज्ञान पूर्ण विज्ञान है कि जिसकी अर्चना में स्वयं सूर्य चन्द्रादि समवेत भूतगण क्रियारत हैं। मनुष्य नाम तो केवल यन्त्रवत हैं। वास्तव में यह ज्ञान शब्दार्थ से नहीं पकता। स्वरार्चन पद्धति से ही पकता और पचता है, क्योंकि दुर्लभ को भी यही पद्धति सुलभ करती है।

चञ्चुरीति यदा व्यष्टिः सा समष्टेः क्रियाप्लुता।

व्यष्टिः निष्कृयताम् याति शून्यमान् समष्टिषु।।३१।।

अन्वयः- यदा व्यष्टिः चञ्चुरीति सा समष्टेः क्रियाप्लुता अस्ति। शून्यमान समष्टिशु व्यष्टिः निष्कृयताम् भवन्ति।

भावार्थ- व्यष्टि में समष्टि का ही साधन अर्चन होता है। इसी प्रकार से व्यष्टि अर्थात् देह के यन्त्र साधनादि में क्रियाशील रहते हैं। उस

क्रियाशीलता में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, आप्त, अग्नि, वायु, आकाश एवं सभी ग्रह नक्षत्र ही व्यष्टि (देह) में क्रियाशून्य होते हैं। तदुपरान्त क्रिया के बन्द होने पर (शून्य) अर्थात् परमव्योम बिन्दु सदा शेष रहता है जिसे संगीत के गूढार्थ में स्वरित कहते हैं। स्वरित ही नाद बिन्दु है। वही नाद बिन्दु निश्फल है। उदात्त अनुदात्त ह्रस्व दीर्घ उसकी आरोहक और अवरोहक हैं।

समष्टेः यन्त्ररूपत्वमवाप्येदम् निजम् वपुः।

कार्याभ्यासन शंसक्तः जीवः सर्व युगदिषुः।।३२।।

अन्वयः– समष्टेः यन्त्ररूपत्वम् इदम् निजम् वपुः अवाप्य सर्वयुगादिषु जीवः कार्याभ्यसन संशक्तः भवति।

भावार्थ– समष्टि के यन्त्र रूप में अपने इस शरीर को प्राप्त करके जीव प्रत्येक गुणों से सञ्चालित कार्यों का साक्षी-द्रष्टा होने के कारण उसे भी क्रियाशील माना जाता है। वास्तव में सृष्टि सम्पादन उस जीवात्मा की ही रचना है। जो केवल इच्छा मात्र से सम्पन्न हो जाता है। इसलिये जीवात्मा को अंश अंशी जैसे अनुमानित ज्ञान की विचलित कक्षा में नहीं लाना चाहिए। जीव शब्द परमव्योम परमात्मा का ही एक पर्यायवाची शब्द है।

टिप्पणी– जीव-समष्टि व्यष्टि का कारण है। इसीलिये उसे शरीर धारण करने वाला कहा गया है। यही उस जीव का कर्तापन है। चूँकि शरीर में समष्टि तत्त्वों की ही क्रियारसता है। इसलिये वह जीवात्मा अकर्त्ता भी है। परन्तु समष्टि के गर्भ से लेकर उसके रूप में वह अभिन्न है। रूप और गर्भज्ञान की अभिन्नता ही उस जीवात्मा की अद्वितीयता है।

वास्तव में जो पृथ्वी, चन्द्र, सूर्यादि को धारण करने वाला है, वही इस देह को भी धारण किया है। वह भी जीव ही है जो समष्टि विज्ञान की शक्ति को धारण किया है तथा इस देह को भी। इसमें कोई अन्तर नहीं है। देह में जीव को अंश मानना अनुमान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

आर्चिकम् गाथिकञ्चैव समिकम् च स्वरान्तरम्।
आनन्दमय कोशेषु प्राप्नुवन्तीहचाङ्गताम्।।३३।।

अन्वयः– आर्चिकम् गाथिकम् समिकम् च स्वरान्तरम् इह आनन्दमय कोशेषु अंगताम् प्राप्नुवन्ति।

भावार्थ– आत्मा ही आनन्द है; इसलिये वही आनन्दमय कोष भी है। इस प्रकार आर्चिक, गाथिक, सामिक एवम् स्वरान्तर आनन्दमय कोष के रूप में उसी को प्राप्त होकर अपनी अंगता को भी प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् आनन्दमय कोष की अंगता भी आनन्दमय भी है। चाहे स्वरान्तर सम्बन्धी राग, ताल, स्वर साधन, तान आलाप प्रयोग हो, या सामिक सम्बन्धी सस्वर मन्त्र पाठ हो, या गथिक सम्बन्धी चरित गुण गाथा का विस्तार अखण्ड पाठ हो या सर्वोपरि आर्चिक स्वर साधन हो। इस प्रकार सभी अर्चनात्मक स्वर साधन प्रयोग की पद्धति आनन्द मय ही है। आनन्द अपरिणामी, निर्विकल्प, परमतत्त्व है। आनन्दम ब्रह्म इत्युपासीत् के अनुसार "ब्रह्मनाम" आनन्द रूप और अभेद है। इस ढंग से उपासना करनी चाहिए। जब भी आनन्द का अवतरण होता है तो वहाँ आनन्द की सत्ता में भ्रम, भव, भेदभाव, मृत्यु चिन्तन सब एक साथ आनन्द में विलीन हो जाता है।

ह्यष्यन्ति मानवाः सर्वे ये कौशेयेषु संगता।
नवीना पद्धतिश्चैषा प्राक्तनाया पृथक् विधा।।३४।।

अन्वयः– सर्वे मानवाः ये कौशेयेषु संगताऽह्रष्यन्ति। एषा नवीना पद्धतिः प्राक्तनायाः पृथक् विधा अस्ति।

भावार्थ– जो जो मनुष्य कोषों की अंगता अर्थात् स्वर साधन की एकाग्रता सहित आनन्द को प्राप्त करने में संलग्न होते हैं वे सब सदा प्रसन्न ही रहते हैं। अभिमान का दबाव जो कि भेद भाव पक्षपात से जुड़ा हुआ होता है उपरोक्त साधन पद्धति में भेदभाव सभी निश्प्रभावी हो जाते हैं।

वास्तव में जो शाश्वत सत्य नहीं है वह न तो कभी प्रकाशित होता है न उसका कोई विकास ही होता है। जो अनुमानित ढंग से कोषों में तो विहार करते हैं परन्तु उसकी भूमिका का ज्ञान उन्हें नहीं हो पाता। उसका मूल कारण है कि आर्चिक भूमि ज्ञान की अज्ञानता।

टिप्पणी– अनुमान इन्द्रिय परक ज्ञान है। यह ज्ञान कार्य को देखकर कारण के निमित्त अनुमान किया जाता है। परन्तु साधन की सिद्धि एवम् उसका साक्षात्कार अनुमान रहित है। इस प्रकार स्वर स्फुरण में पांचों कोषों का एक साथ योग होता है। पंचकोषों का तात्पर्य यह कि आर्चिक ज्ञान से अन्नमय कोष में सुपाच्य का सेवन होने लगता है। प्राणमय कोष अर्थात् पञ्च महाप्राणों में शुद्धता का आगमन हो जाता है। मनोमय कोष– अर्थात् मन निरुद्ध हो जाता है। विज्ञानमय कोष बुद्धि स्थिर हो विवेक रूप हो जाती है। आनन्दमय कोष के ज्ञान में उपरोक्त सभी पञ्चकोश विंराट् पुरुष के ही अंग हैं। आर्चिक साधन से इसका बोध होने लगता है।

एतत्पृथग्विधम् मार्गम्नानुसरन्त्य पमार्गिणः।
नगतिर्न सुखम् तेषां यान्ति ते व्यसनं महत्।।३५।।

अन्वयः– अपमार्गिणः एतत् पृथक् विधम् मार्गम् न अनुसरति। अतः तेषाम् न गतिः (अस्ति) न सुखं ते महत् व्यसनम् यान्ति।

भावार्थ– अपमार्ग अर्थात् शास्त्रीय पद्धति का त्याग करके चलने वाले वे ही कहे गये हैं जो आर्चिक पद्धति से साधन नहीं करते। वैसे आर्चिक केवल एकाचकीय षड्स्थली साधन है। परन्तु गाथिक सामिक स्वरान्तर में भी उसकी अपनी गति रहती ही है। अपमार्गियों को इसका ज्ञान नहीं होता कि आर्चिक क्या है और गाथिक सामिक स्वरान्तर क्या है। जबकि संगीत की शास्त्रीयता के ये मूल श्रोत हैं। चाहे तालबद्ध गायन हो या श्लोकबद्ध छन्द व वैदिक परम्परा गत् कर्मकाण्ड विषयक मन्त्र हो। इसको जाने बिना कभी भी कोई संगीतज्ञ मन्त्र वेद पाठी अल्प ही सिद्ध होता है। संगीत साहित्य की भूमिका

का यही अर्थ बनता है कि जो शास्त्रीयता से परे होकर हाहाकार में लगे रहते हैं न उन्हें सुख शान्ति आनन्द प्राप्त होता है न ज्ञान और न भक्ति।

इस प्रकार स्वर साधन पद्धति को विकृत करने वाले अपमार्गी स्वर मात्रा तालों की गति को अगति करने के कारण विकृत त्याज्य के पोषक बन बैठते हैं। इसी कारण से किसी न किसी भयंकर कष्ट में वे अवश्य ही पड़ जाते हैं।

टिप्पणी- शास्त्र ही संस्कार है। अप ही कुसंस्कार आगन्तुक है। कुसंस्कारों को दूर करने के लिये संस्कारित होने के लिये शास्त्र की रचना है। आगन्तुक दोष की रचना नहीं होता। दुष्प्रवृत्ति जन्य विचारों का हठात अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर स्थायी रूप से निवसित होना ही आगन्तुक है।

स्वरम् ब्रह्मेति पूर्वोक्तम् मया ज्ञानाप्ति हेतवे।
मूलम् तत्सृष्टि वृक्षस्य वेदानाञ्च तथा जनिः।।३६।।

अन्वयः- ज्ञानाप्ति हेतवे मया स्वरम् ब्रह्म इति उक्तम्। तत् सृष्टिवृक्षस्य मूलम् तथा वेदानाञ्च जनिः।

भावार्थ- ज्ञान एवम् ब्रह्माकार अवस्था की प्राप्ति के निमित्त हमने स्वर को ब्रह्म बताया। यही सनातन ज्ञान है। भाव यह है कि अनाहत नाद जिसे ही परमाकाश भी कहा गया है। जोकि आकाश से भी विलक्षण और उसके गर्भ में स्थित है। उसी ब्रह्मनाद का विवर्तित रूप भी ब्रह्ममय हुआ। इस पर एक श्लोक है कि-

"वाचो यस्मानिवर्तन्ते तद्वक्तुम् के न शक्यते"।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्द विवर्जितः।।
उपरोक्त श्लोक के अनुसार अनादृत् नाद ही सृष्टि रूपी वृक्ष का मूल है।

अनाहत वाद-अनाहृत ही परा वाणी है जो अशरीरी होने के कारण शरीर के यन्त्रों को सुनाई पड़ता है और दिखाई भी पड़ता है वह वर्ण का

विषय नहीं अनुभवगम्य है तथा वेदों की उत्पत्ति का मूल भूमि है। क्योंकि ये सभी सस्वर गाये जाते हैं। इनका सम्बन्ध स्वर, मात्रा, लय-तालादि से है। इन्हीं साधनों से ज्ञान गर्भ में प्रवेश पाना सम्भावित है। इसमें पञ्च का सम्बन्ध समाष्ठि से है। अर्थात् पृथ्वी सूर्य, चन्द्रादि से है। और प्रपञ्च का सम्बन्ध व्यष्टि (व्यक्ति) से है। जिस प्रकार पञ्च और प्रपञ्च अभेदता को सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार परमव्योम् अनाहृत व्यष्टि के आहत यन्त्रों अर्थात् नाभि, वक्ष, मुख देशीय यन्त्रों से रूप रहित स्वरों और अक्षरों की अभिव्यक्ति करता है। क्योंकि जैसे अनादृत नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार आदृत यान्त्रिक सस्वर नाद भी दिखाई नहीं पड़ता। यह अवश्य ही अवभाषित होता है कि अव्यक्त ब्रह्मनाद की व्यक्त आहत प्रक्रिया से सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आप्त अग्नि वायु, आकाश, ग्रह, नक्षत्र सभी आहृत रूप से क्रियारत हैं। बिनु पग चलेऊ सुनेऊ बिनु काना वास्तव में वह अनाहृत जो वैज्ञानिक है बिना कान के है परन्तु सुनने के लिये वह कान का निर्माण कर दिया इसलिये अनाहृत की प्रतिष्ठा कान के कारण है। यदि अनादृत स्वरूप वह आत्मा मानस के अनुसार बिना पाँव के चलता है तो उसका यह वैज्ञानिक रूप चक्षु उसे अवश्य ही देखंता है। उसी प्रकार बिना मुख और कान के जो ध्वनि और शब्द दृष्टिगोचर होते हैं तो उसके विषय मुख बोलता है और सुनता है और बिना हाथ के जो सृष्टि द्रष्टव्य है अर्थात् दिखाई पड़ रही है बिना हाथ के वह अनाहृत रूप आत्मा सृष्टि की रचना कर दी। बिना पाँव के जो चलता हुआ प्रतीत होता है, तो चलने के लिये उसमें पाँव की रचना कर दी। उसी प्रकार हर एक रसों को आस्वाद के लिये उसने मुख देश की रचना कर दी और रसाभिव्यक्ति के लिये परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी का अध्यारोपण इस मानवदेह में कर दिया है यह सारी कृति अनाहृत की ही है। इस लिये अनाहृत प्रकृतिस्थ हो गया यानि अनाहृत शब्द 'प्र' नामक अक्षर में समाहित होकर जो उसने कृति रूप में सृष्टि का प्रस्तुतिकरण किया वही प्रकृति रूप से जाना जाने लगा। क्योंकि बिना प्रकृति के न वह द्रष्टव्य ही होगा न किसी प्रकार से उसके विषय में कुछ कहा ही जा सकता है इसलिये अनाहृत शब्द की अभिव्यक्ति प्रकृति जन्य

है अर्थात् उसका सगुण रूप प्रकृति शब्द है और वह स्वयं ही प्रकृति है। इसलिये 'प्र' की कृति और अनाहृत रूप स्वयं 'प्र' अभिन्न है। संगीत शास्त्र की गर्भ भूमि अनाहृत है और आहृत नाद का प्रस्तुतीकरण उस अनाहृत की प्रकृति है। संगीत शास्त्र व उसकी आध्यात्मिक परिभाषा पुरुष और प्रकृति अभिन्न है। इसमें किसी प्रकार का द्वयत्व नहीं है। यह संगीत शास्त्र की अमृत वाणी है और उसका यही ज्ञान गर्भ है जिसके जानने से जिसमें स्थित हो जाने से मनुष्य जन्म, मरण, और जीवन में सुख दुःखादि की प्रसन्नता चिन्ता से मुक्त हो जाता है।

स्वरस्य बृत्यमालम्ब्य जायन्ते सर्वव्यञ्जनः।
संख्यातेषां त्रयस्त्रिंशत् ये येवप्रतिरूपिणः।।३७।।

अन्वयः- स्वरस्य वृत्तिम् आदाय सर्व व्यञ्जनाः जायन्ते। तेषां संख्या त्रयस्त्रिंशत् अस्ति। ये व्यञ्जनाः देवप्रतिरूपिणः सन्ति।

भावार्थ- स्वर व्यापार के ही अनन्तर व्यञ्जनों की उत्पत्ति होती है। जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है कि "न ह्यचम् विना व्यञ्जनस्योच्चारणम् सम्भवति"। अर्थात् बिना स्वर के व्यञ्जन का उच्चारण सम्भव नहीं। भाव यह है कि व्यञ्जन उच्चारण से लेकर चराचर सृष्टि पदार्थों में स्वर की ही प्रधानता है। यह अनादि अनन्त है। श्लोक के अनुसार व्यञ्जनों की संख्या ३३ है। जिन्हें ही देव रूप कहा जाता है। जैसा कि पुराणों में भी कहा गया है कि ब्रह्म के अनन्तर देवताओं की उत्पत्ति मानी गई है। अर्थात् सृष्टि के पदार्थों में देवता ऊर्ध्व माने गये हैं। उसी प्रकार स्वर कारण है कि व्यञ्जनों की उत्पत्ति का। अस्तु जिस प्रकार देवताओं की उत्पत्ति संख्या ३३ है उसी प्रकार व्यञ्जनों की अविकृत संख्या ३३ है; और मात्राओं की समष्टि संख्या १६ है। इन १६ मात्राओं से जो वास्तव में स्वर ही है; उसमें द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, आठ वसु, इन्द्र व ब्रह्मा यही ३३ कोटि के देवता कहे गये हैं। इस प्रकार से मूल देवता सृष्टि में ३३ ही हैं। प्रजातियाँ अनन्त हैं। आम,

पीपल, बरगद, जैसे वृक्ष भी देव रूप ही माने जाते हैं। इनकी भी पूजा अर्चना होती है। अर्चना शब्द भाव और स्वर से जुड़ा हुआ है। स्वर लय और ताल मात्रा आदि सभी अभिन्न हैं। त्रिताल ही समष्टि रूप आदि ताल है और शेष उसी के उप ताल, त्रिताल की ही प्रजातियाँ हैं। चाहे एकताल हो, या चौताल, रूपक, झपताल, शिखरिणी ताल हो। अन्य तालों के सहित सभी त्रिताल की प्रजातियाँ हैं। जिस प्रकार देवताओं की उत्पत्ति प्राकृत है। रज, वीर्य उनकी उत्पत्ति का कारण नहीं बनता। उसी प्रकार स्वर और ताल की अभिव्यक्ति रज, वीर्य रहित ही है। वास्तव में परम् व्योम अमृत मात्राओं के गर्भ से इनकी उत्पत्ति सिद्ध है। व्यष्टि से स्वर, ताल, लय, शब्द का उच्चारण होता है इनका जन्म नहीं होता। इस प्रकार जो इसे जानता है जान लेता है वह भी इन्हीं की तरह अजन्मा सिद्ध हो जाता है।

टिप्पणी– त्रिताल में आर्चिकता - चाहे तबला वाद्य हो या पखावज। ये वाद्य षड्ज, मध्यम्-पञ्चम स्वर में एकाचकीय रूप से मिलाये जाते हैं। एकस्थली ध्वनि ही आर्चिक है। जिसका आरोह अवरोह न हो वही आर्चिक्र कहा गया है। सभी वाद्य वोलो परन (कायदा पेशकार) इत्यादि वोलो का लय आर्चिक ध्वनि में ही होती है। जिसमें से ध्वनि निकलती है उसे घट कहते हैं। चाहे मिट्टी का घट हो या शरीर घट हो या पीतल, ताँबा, लकड़ी चर्मादि का हो। इस प्रकार जहाँ जिसमें से आघात होता है सब समष्टि का ही वह यन्त्र होता है।

मन और चित्त शब्द में शुद्ध चैतन्य का पर्यायवाची शब्द चित्त है मन नहीं। क्योंकि चित्ताकाश में ही मन स्वप्न देखता है। मनो निरोध से मन शुद्ध होता है मन की इत्यादि अविद्या से होती है। इस प्रकार मनोमय कोश में चित्त ही विद्यमान होता है वास्तव में मनोनिरोध का तात्पर्य यह है कि जब उसे यह ज्ञात होता है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तत्त्व रूप जो आत्मा है। मूल सत्ता उसी आत्मा की ही होती है। और उसको यह ज्ञान उसकी एकाग्रता से ही प्राप्त होता है। चूँकि मन प्राणाधीन होता है। सस्वर आर्चिक ठहराव में

प्राण की क्रिया कुम्भक रेचक साथ साथ होती है। इस प्रकार प्राण के प्राकृत ठहराव के साथ मन को भागने की कोई गली नहीं मिलती और (मन) प्राण की सस्वर कुम्भक रेचकीय प्रक्रिया में वह कर्ण युक्त हो जाता है और शनैः शनैः इस अभ्यास से वह सत् पदार्थ से एकाकार होने लगता है। इस प्रकार की एकाकारिता से मन अविद्या की दुःसंगति से पृथक होकर पूर्णरूपेण एकाग्र होकर "अमनस्तां तदा याति ग्राह्या भावे तदग्रहम्" की स्थिति प्राप्त कर अमनी भाव में होकर परमात्मा के परम नाद बिन्दु का भक्त बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि समष्टि ही इस देह में क्रियारत है इसका ज्ञान होते ही वह कण्ठ की ठकठकाहट से छूट जाता है और फिर वह गाने बजाने की लालसा का अन्त हो जाता है। जैसे की स्वामी हरिदास और अत्याधुनिक गो भक्त अलाउद्दीन खाँ साहब प्रदर्शन रहित अवस्था को प्राप्त करके केवल ज्ञानवर्धक आर्चिक की शरण में आ गये थे। इसी प्रकार से साधन में भगवत्कृपा जिस पर हो जाती है निश्चय ही वह संगीत के ज्ञान गर्भ में प्रवेश कर कण्ठ की ठकठकाहट से मुक्त मौन हो जाता है। और इस प्रकार के परम नाद तत्त्व वेत्ता मौन रूप से कल्याण करने वाली बातों को मानकर सतत् चलते रहते हैं।

अचार्चिक साधन पद्धति कोई लादने जैसी वस्तु नहीं है उसमें स्वेच्छा चारिता है। स्वर आकशवत है, परन्तु उसके स्फुरण और उच्चारण का सम्बन्ध मुखदेशीय, स्थान विशेष से है। स्वर का शास्त्र मुख देश ही है। उसका शास्त्र केवल आकाश नहीं होता वरन उसमें मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र सभी क्रियारत होते हैं। इसका यही अभिप्राय है।

यथा कलाः विराजन्ते कृष्णे षोडश संख्यकाः।
तथा स्वरेऽपि दृश्यन्ते मात्राः षोडश सांख्यिकी।।३८।।

अन्वयः– यथा कृष्णे षोडश संख्याः कलाः विराजन्ते। तथा स्वरे अपि षोडश सांख्यिकी मांत्रा विराजन्ते।

भावार्थ– जिस प्रकार कृष्ण भगवान में १६ कलाएँ विराजमान रहती हैं। उसी प्रकार स्वरों में १६ मात्राएँ विराजमान रहती हैं।

टिप्पणी–यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि (नव) नौ अच और सप्त शुद्ध स्वरों में १६ मात्राएँ कैसे? इसके उत्तर में यही कहना श्रेयस्कर होगा कि १६ प्रकार के स्वरोच्चारण की क्रमिक लयबद्धता का प्रयोग त्रिताल है। तीन ताली अर्थात् १-५-१३ ताली और ९-१०-११-१२ खाली के संकेतों में गायत्री मन्त्र का समावेश है। जो जगत् की रीढ़ है। अच ही मात्रा है। आ आ - ई ई - ऊ ऊ - ए ऐ - ओ औ - अं अः ॠ ॠ - ॡ ॡ उपरोक्त अचो के दीर्घ रूप में लेकर १६ मात्राओं की व्युत्पत्ति हुई है। जो वास्तव में स्वर ही हैं। अस्तु वाद्यों को बजाने के लिये–

धा	धिं	धिं	धा	धा	धिं	धिं	धा	धा	तिं	तिं	तिं	ता	ता	धिं	धिं धा
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

\+ सम   २दूसरी ताली   ० खाली ३ तीसरी ताली

(को वाद्यों को बजाने के लिये) अवरोपित किया गया है। संगीत जगत में (सा) स्वर सूर्य रूप में लिया गया है। जिसको षड्ज के रूप में जाना जाता है; और इसी सा को तम्बूरा वाद्य के साथ 'आ' उच्चारण से स्वर साधन किया जाता है; और इसी षड्जीय आ को लक्षित करके 'धा' को पखावज व तबला को बजाने के लिये अवरोपित किया गया है। या अवरोपण किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'धा' वाद्य वर्ण षड्ज ही है। जिस प्रकार षड्ज ठहराव रूप में एकाचकीय होने के कारण आर्चिक है। उसी प्रकार एक स्वर पर आधारित 'धा' वर्ण आर्चिक है। त्रिताल की पहली मात्रा का उपयोग इस प्रकार से किया गया है।

इसके पश्चात् त्रिताल की पहली मात्रा पर लगने वाली आधातित ताली गायत्री मन्त्र के भूः को सूचित करती है। भूः का अर्थ होता है प्रत्यक्ष सृष्टि

पदार्थों का ज्ञान। इसी प्रकार पांचवीं मात्रा पर लगने वाली दूसरी ताली 'भुवः' को सूचित करती है जो प्रत्यक्ष पृथ्वी से उर्ध्व देश आकाश से लेकर सौर मण्डल को जगाने का संकेतक है। इस प्रकार सौरमण्डल को अनुमान से न जाना जाय वरन् साधक उसका साक्षात्कार करके संतुष्ट होने का प्रयास करे। १३ मात्रा पर जो तीसरी ताली लगती है वह 'स्वः' को सूचित करती है। स्वः का अर्थ आप्त वचन है। आप्त वचन का संकेत यह है कि साधन के द्वारा होने वाले ज्ञान को अकाट्य बनाना। स्वः ही परमव्योम् परब्रह्म परमात्मा सृष्टि का गर्भ है। इसी गर्भ भूमि ज्ञान विषयक परमतत्त्व को जानने के लिये 'साम' वेद में स्वर, ताल, लय अक्षर की चर्चार्चना हुई है। जिसे जानने और साधन करने के लिये हम कृत संकल्प हो सतत् अभ्यास करते हैं। जीवन खाली न जाय इसी लिये खाली का संकेतक जो त्रिताल के अन्तर्गत ९ वीं मात्रा पर प्रयुक्त हुआ है। जो कि ९ अचों को सूचित करता है उसके संकेत को ० रूप दिया गया है। अर्थात् इन नौ अचों को जाने बिना जीवन शून्य है। क्योंकि भाष्यकार के अनुसार ही अचों को स्वर कहा है। अर्थात् 'अचः स्वराः'। इस प्रकार शून्य शब्द दो प्रकार का अर्थ रखता है। पहला अर्थ है शून्य ० को जानना और दूसरा अर्थ है बिना जाने शून्य यानि खाली ही मृत्यु को प्राप्त हो जाना। त्रितालादि तालों में खाली का यही अर्थ बनता है।

स्वर साधनं प्रक्रिया के अन्तर्गत शून्य को गहराई से जानने के लिये ताल की रचना हुई है। ० शून्य ही परमव्योम ज्ञानगर्भ है। इस परम व्योम स्वरूप शून्या यानि काली के संकेतक को जानना ही संगीत विद्या अथवा संगीतकला का परम लक्ष्य है। संगीत विद्या है। वह भक्ति परक साधन ज्ञान का निमित्त है। संगीत 'कला' संबोधन विद्या का ही स्फुरण है। साधकों को 'कला' नाम न समझ पाने के कारण अविद्या उन्हें अभिमानी बना देती है।

टिप्पणी- ज्ञान गर्भ जिससे सब हैं। जो सबमें है। उसी प्रकार गर्भ का उल्टा भर्ग है। भर्ग यानि जो सूर्य सत्ता तक को भरण पोषण संबंधी उर्जा प्रदान करता रहता है। उसी भर्ग से समावेद व संगीत शास्त्र की व्युत्पत्ति हुई है।

जिसमें सूर्य, चन्द्र सारे प्रदूषणों को सहर्ष पान करता रहता है। इसी सूर्य और चन्द्रमा को लेकर 'सा' और 'म' से सामवेद की व्युत्पत्ति मानी गई है जिसको संगीत की भाषा में षड्ज मध्यम सम्वाद नाम से जाना जाता है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा का भरण पोषण करने वाला तत् संबोधक शब्द ही परम व्योम सम्बन्धी ज्ञान गर्भ और सबका सम्पोषक भर्ग है। इसी भर्ग के गर्भ से संगीत शास्त्र की व्युत्पत्ति हुई है। 'साम' वेद शब्द में 'सा' सूर्य है जो रेचक क्रिया द्वारा प्रदूषित विचारों और शरीर यन्त्रों की रूग्णता के कारण बढ़ने वाले प्रदूषण को बाहर करता है जो कि अपान सूचक है। उसी अपान को 'म' अर्थात् चन्द्रमा पान करके सूर्य को सदैव (आक्सीजन) शुद्ध वायु को प्रदान करता रहता है। इस सृष्टि में 'साम' वेद की यही उपयोगिता है। जिसमें सूर्य और चन्द्रमा का ही योग है। इस प्रकार सामवेद के कार्यकारी अधिदेव सूर्य और चन्द्रमा ही हैं।

रराम सुस्वरे कृष्णः वंशिका वादेने सदा।
तदासक्तो न तत्याज संगम तस्याः स्वजीवने।।३९।।

अन्वयः- कृष्णः सदा सुस्वरे वंशिका वादनेरराम्। तदासक्तः (सन्) स्वजीवने तस्याः संगम न तत्याज।

भावार्थ- भगवान कृष्ण अपने ही निज स्वरूप में भ्रमण करते हैं। उनका आध्यात्मिक रूप ही स्वर, मात्रा, ताल, लय, अक्षर रूप जीवन है। मधुर स्वर वाली आहत स्वरूप वंशी बजाने वाली उनकी रुचि के अनुसार जगत् के सभी प्राणियों को संकेत रूप से में (निज स्वरूप में) प्रवेश करने के लिये वह दिशा का निर्देशन करती है। क्योंकि जगत उन्हीं कृष्ण का ही रूप है। इस प्रकार स्वर में सदा आसक्त रहकर जीवन में उस वाद्य पर अभ्यासरत रहे। उन्होंने वंशी वादन का साथ कभी भी नहीं छोड़ा, वह उनके कर कमलों में सुशोभित रहती रही। जबकि इसकी चर्चा हो चुकी है कि ज्ञान गर्भ के संकेतक - अक्षर, स्वर, मात्रा, ताल लय ही है; क्योंकि जो कुछ भी बोला जाता है और गाया

जाता है। वह स्वर और लय से रिक्त नहीं होता। इस प्रकार आहत प्रक्रिया के अन्तर्गत स्वर, लय, ताल, मात्रा, अक्षर उस परम व्योम अनाह में अनुप्रविष्ट होने वाले प्रमुख स्रोत हैं। गीता के अनुसार अक्षराणामकारः जो संगीत का प्रमुख आलम्बन-अवलम्ब है। भवसागर से पार करने वाली निर्विघ्न नौका के समान है।

टिप्पणी- कृष्ण विराट् ब्रह्माण्ड नायक हैं। जैसे आत्मा सभी घटों में निष्कल है; परन्तु कलायुक्त देह का वह निर्लिप्त अधिष्ठान भी है। यहाँ पर कला शब्द की क्या परिभाषा है। उसी को सूत्र रूप में व्यक्त किया जा रहा है।

आत्मा कला रहित है। यह देह अनेक कलायुक्त आवृत्तियों से आवृत है। जैसे पञ्चभूत, पञ्च प्राण, पञ्च तन्मात्रा, पञ्च ज्ञान कर्म इन्द्रियाँ इत्यादि यही पञ्च कोष सब देह की कीली है। "आत्मा विनिश्कलो ह्योको देहो बहुभिरावृतः"। तयोरैक्यंक प्रपशन्ति किमज्ञान मतः परम्, यह प्रमाण अद्वैत की परिपुष्टि करता है। इसी श्लोक के अनुसार कृष्ण में संगीत की व्यापकता को लेकर उनमें १६ कलायें विद्यमान हैं जो १६ मात्राओं की पोषक और ज्वलन्त प्रमाण हैं। कृष्ण की अभिरुचि संगीत में होने के कारण पूर्ण ब्रह्म की उपाधि से वे विभूषित हैं। कृष्ण स्वरूप आत्मा निश्कल है लेकिन देहधारी होने के कारण ही संगीत की अभिव्यक्ति होती है इसलिये कृष्ण की देह कलायुक्त है और तत्त्वतः कृष्ण नाम निष्कल है। इस देह में देवताओं के सहित पञ्च प्रपञ्च अर्थात् महापञ्चभूत जब देह रूप में आवृत हुआ तो वह महापञ्चभूत से छोटा हो गया। इसलिये वही प्रपञ्च हो गया और इस प्रकार से पञ्च महाभूत ही इस देह में प्रपञ्च नाम से जाना जाता है। उसी महाभूत से पञ्च प्राण, पञ्च कोष, पञ्च ज्ञान और पञ्च कर्मेन्द्रि अष्ट धातु सहित आवर्तित हो गया। इसी को सामवेद की शास्त्रीयता में कला नाम से जाना गया। अस्तु जो देह अभिव्यक्ति होती है वह भी कला है और इन्हीं सूर्य, चन्द्रादि और महाभूतों की अभिव्यक्ति से आहत स्वरूपनाद स्वर की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार देह भी कला है और देह के योग से अभिव्यक्त होने वाला संगीत भी कला है।

जो सबको धारण किया है वही कलाकार कृष्ण है; और प्रत्येक व्यष्टि स्वरूप घटों में कृष्णवाची आत्मा है इसी धारक स्वरूप अधिष्ठान को धर्म कहा गया है। जो निरपेक्ष भाव से सबको धारण किये हुए है। "धारणात् इति धर्मः" अर्थात् कृष्णरूप आत्मा का यही धर्म है। कि अजाति रूप से वह सभी प्रकारात्मक जातियों को धारण किया है यही उस परम नाद का मायिक विज्ञान है। उसकी प्रस्तुति ही कला है; और प्रस्तोता स्वयं निष्कल ब्रह्मात्मा कृष्ण हैं।

अनाहत शब्द ही परादेश है और उसका दूसरा नाम परावाणी है। क्योंकि अनाहत ध्वनित होता है उसकी ध्वनि अखण्ड रूप में ध्वनित होती रहती है इस प्रकार जो अनवरत ध्वनित होती रहती है वह ईकार रूप से सुनाई देती है। राम चरित मानस में इसी की चर्चा परम पाद श्री तुलसी दास जी ने किया है कि "बिनु पग चले सुनेऊ बिनु काना" इत्यादि अर्थात् कर्ण देश से जब कलिमल और कलि कलुष दोनों स्वर साधन प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं तो परावाणी से सम्बद्ध परम व्योम ध्वनित होने लगता है परा वाणी की यही परिभाषा है। इसकी अतिरिक्त पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ये तीनों ही आहत से युक्त हैं। ये तीनों वाणियाँ परा देशीय अमृत को मुख देश में बिखेरने का कार्य करती हैं जिसके बिखराव का मूल श्रोत स्वर वर्ण है स्वर ९ हैं वर्ण ३३ कोटि हैं। ये दोनों एक हैं। स्वर अक्षर को ढोता है अक्षर स्वर का अर्थ है और मन्त्र भी है। मन्त्र आहत स्वरूप मन्त्र ध्वनि उस अमृत को मुख देश में बिखेरता है जिससे मुख देश और समष्टि पर्यावरण शुद्ध और पवित्र होते हैं। वही मन्त्र प्रभावकारी है जिसको ज्ञानियों ने जपा और साधकों ने जपा और भक्तों ने जपा। परन्तु उसी मन्त्र को रावण अपने नाभिप्रदेशीय अमृत का जप नहीं किया इसी कारण से उसके मुखदेश को वह अमृत शुद्ध व अमर नहीं कर सका। वह परादेशीय अमृत और कुछ भी नहीं है उसी को रामाक्षर कहते हैं जो सबका अपना रामकृष्ण है। और राम कृष्ण ही अमृत स्वरूप परादेशीय अनाहत नाद है।

स्वकक्षे स्थापयामास वायु पूरम यदा कदा।
व्रततिव्रता श्रेष्ठः सञ्चुशु में कुर्वन्महद्ध्वनीम्।।४०।।

अन्वयः– स्वकक्षे स्थापयामास यदा कदा वायु पूरम व्रततीव्रात् श्रेष्ठः सन् महद् ध्वनिम् कुर्वन् शुशुभे।

सृष्टेश्च गर्भ सम्भूतम् कृष्णरूपमनाहतम्।
वर्तते परमे व्योम्नि मात्रा तालैविवर्तते।।४१।।

अन्वयः– कृष्णरूपम् अनाहतम् सृष्टेः गर्भ भर्गः सम्भूतम्। परमे व्योम्नि वर्तते च मात्रा तालैः विवर्तिते।

भावार्थ– अनाहत नाद ही कृष्ण का अखण्ड रूप तथा आहत रूप से स्वर, मात्रा, ताल, अक्षर, शब्द, मन्त्र, श्लोक, सूत्र, छन्दादि का मूलभूत गर्भ है। जिस प्रकार कृष्णनाम अविद्या व्यवहार से उत्पन्न होने वाले सभी विकारों आपातों जैसे प्रदूषणों को कर्षित कर लेता है और सभी विकृतियों को दूर कर देता है। उसी प्रकार वह दुदर्श परमव्योम् स्वरूप अस्पर्शायोग अनाहत नाद श्रवण साक्षात्कार से दूर कर देता है सभी दोष उसके ज्ञान और श्रवण प्रभाव से परा, पश्यन्ती मध्यमा, वैखरी जो नाभि से लेकर मूर्धादेश तक की अभिव्यक्ति में स्थूल सूक्ष्मांक विकारों की संशुद्धि कर देता है। यह ध्रुव सत्य है। जो निर्मल है उसे सबकुछ निर्मल ही दिखाई देता है।

"कृष्णमनाहतम्"–का यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार अनाहत निरवयव निर्विकार और अमृत है, उसी प्रकार उसके अवयव सूर्य चन्द्रादि भी अमृत और निर्विकार हैं। विकारों से न सूर्य विकृत होते हैं न चन्द्रमा, पृथ्वी इत्यादि ही।

सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी शरीरों में हैं इस ढंग से जो जानता है और देखता है समष्टि व्यष्टि की शुद्धता का उन्हें भान हो जाता है। चक्षु सूर्य ही हैं। चक्षु का कार्य देखना है। व्यष्टि में कौन कैसा देखता है। इस प्रकार देखना सूर्य का कार्य नहीं है। वास्तव में देखने में विद्या और अविद्या दोनों की संगति होती है।

इस प्रकार सूर्य में अविद्या का प्रवेश सम्भव नहीं; क्योंकि सूर्य चन्द्र से लेकर सभी भूत गण सम दृष्टि से देखते हैं। कार्य करते हैं और इसी प्रकार से वे देहस्थ भी हैं।

चन्द्रमा अपन का समदृष्टि से पान करता है। और चक्षु से सूर्य ही देखता है। इस प्रकार पञ्च भूत में सूर्य, चन्द्र उर्जा प्रकाश प्रदायक हैं। सूर्य समष्टि व्यष्टि के पदार्थों से लेकर सभी प्राणियों में उत्पन्न होने वाले प्रदूषणों को अपने रेचककला धर्म से आकर्षित करता रहता है। अष्ट धातुओं में समाहित सभी प्रदूषण तक को सूर्य बाहर निकालता है जिसे चन्द्रमा ग्रहण करके शुद्ध वायु प्रेषित करता रहता है। इसमें फिर संगीत की क्या विशिष्टता हुई? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना उपयुक्त है कि संगीत अपने अद्वितीय तत्त्व दर्शन चक्षुज्ञान से सृष्टि कार्यों का आकलन करने में संगीत के स्वर ज्ञान ही उपयुक्त हैं। संगीत की ज्ञान भूमि बहुत ही गहरी है। यह अमृतमय सत् पथ का हेतु है।

स्वरैः सम्प्रेरिते शब्दे यावत्कालोऽपिक्षीयते।
सर्वै स्वररसामग्नैः मात्रेति व्यपदिश्यते।।४२।।

अन्वयः- यावत्कालः स्वरैः सम्प्रेरितेशब्दे अपक्षीयते स्वर रसामग्नैः सर्वै मात्रा इति व्यपदिश्यते।

भावार्थ- सस्वर शब्दोच्चारण में जितना समय व्यतीत होता है। स्वर रूपी रस में आकण्ठ निमग्न होने वाले विशिष्ट लोगों द्वारा मात्रा का व्यवहार गायन व व्यक्तिगत साधन में इस प्रकार से लयबद्धता को प्रस्तुत करना चाहिए कि एक के पश्चात् दूसरी मात्रा का उच्चारण समय व उसका अर्थ स्वयं की समझ के साथ श्रोता को भी समझ में आ सके। उसी को मात्रा कहते हैं। इस प्रकार से अभिव्यक्त होने वाले उस मात्रा का निर्धारण व्याकरण शास्त्र के अनुसार (कुचुटुतुपु) को द्रुत गति से बोलकर एक मात्रा का समय निर्धारित किया गया है। इसी को मात्रा कहते हैं। आज विलंबित गायन शैली की एक

ताल में जो मात्राओं का निर्धारण किया गया है। उपरोक्त शास्त्रीय प्रमाणाधीन वह नहीं है; क्योंकि अक्षर का अर्थ तभी तक रहता है जब तक दूसरे का उच्चारण न हो जाय अधिक ठहराव देना विकृति को सूचित करता है। इस प्रकार समय, स्वर ताल सबका अपव्यय होता है जिससे पर्यावरण में दोष वृद्धि होना स्वाभाविक है।

एक ताल– विलम्बित एक ताल की गायकी का प्रचलन १२ मात्रा में नियुक्त किया। जिसका उपयोग व संगति तबला वाद्य पर की जाती है। परन्तु एकताल विलम्बित क्रमशः १२ मात्रा में गाया नहीं जाता। इसमें केवल मुखड़े की प्रस्तुतिकरण बार बार किया जाता है। १२ मात्रा में से केवल एक-आधे मात्रे में गाया जाता है। इस गायन शैली में १० से ११ मात्रे का कोई पता नहीं होता। वास्तव में ख्याल का अर्थ होता है। नित जाग्रत होकर ख्याल से गायन को प्रस्तुत करना। जिसमें शब्द, मात्रा, अर्थ, स्वर, राग, ताल, सम्बन्धी शास्त्रीयता गौरवान्वित होती रहे। और श्रोताओं को उसका अर्थ भी समझ में आवे।

टिप्पणी– राग में स्वरों के प्रस्तुतिकरण में उसकी रसाभिव्यक्ति अक्षरोच्चारण तक सीमित है। यदि उसे अधिक विलम्बित कर दिया जाय तो रसाभिव्यक्ति समाप्त हो जाती है और सृंगालोरूदन के साथ नीरसता का आभास आद्योपान्त झलकता रहता है। इस प्रकार संस्कृत और संगीत की गौरव गरिमा को कुवाक्य और कुसंस्कारों से आवृत किया जा रहा है। ताकि वह एक दिन अपने निज स्वरूप से समाप्त हो जाय और पुनः कोई उसकी शास्त्रीयता को प्रस्तुत–व्यक्त न कर सके।

संगीत की अभिव्यक्ति में पुराणों के अनुसार यह देखा जाता है कि शास्त्रों को क्षतिग्रस्त करने वाले जब धराशायी होते हैं तो देवार्चन की शैली में पुष्प वर्षा के साथ शंख·ध्वनि, घड़ी, घण्टा और मन्त्रों की ध्वनि का एक साथ उद्घोष होता है। देवताओं का यह आहत स्वरूप स्थूल सगुणार्चन है; और इसमें इसी प्रकार सूक्ष्मार्चन स्वयं अनाहत रूप है जो ज्ञानगर्भ में प्रवेशोपरान्त श्रोतव्य होता है।

इस प्रकार स्वर और शास्त्र एक हैं इसमें उत्तर, दक्षिण, पूरब व पश्चिम का कोई भेद नहीं है। फिर भी संगीत को शैलियों में विभाजित करने का अपराध किया गया। उस अपराधी विकृति को हमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में स्वीकार्य करना पड़ा। हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति का नाम व कर्नाटक संगीत पद्धति का नाम बहुत प्राचीन नहीं है। यह अर्वाचीन ही है।

यावन्मात्रात्मिकः कालो राग रागिनी प्रतिष्ठे।
अभिव्यनक्ति तम्वाद्यम् तालमाहसुतत्वभुत्।।४३।।

अन्वयः- राग रागिनी यावन्मात्रात्मिकः कालः प्रतिष्ठिते। तम् वाद्यम् अभिव्यनक्ति सुतत्वभुत् तालम् आह।

भावार्थ-राग रागिनियों की अभिव्यक्ति में और आज की विलम्बित गायन शैली में समता का अभाव है; क्योंकि विलम्बित गायन शैली में स्वर-मात्राभिव्यक्ति की समता नहीं है। इसी कारण से संगीत का प्रभाव गुण अन्तःकरण में प्रविष्ट नहीं हो पा रहा है। प्रस्तुतिकरण करने वाले व्यसनी होते चले जा रहे हैं। स्वर और मात्रा का सामञ्जस्य होना आवश्यक है। इस प्रकार जितनी मात्रा का काल गायन में होता है उतने ही काल का निर्धारण वाद्य में होना चाहिए। (श्रोताओं को) सारंगी, तम्बूरा, पखावज, तबला, सितार, वंशी जैसे वाद्यों में किये गये आघात द्वारा जो गूंज होती है व आस सुनने को मिलता है। वह मात्रा को ही सूचित करता है। परन्तु वाद्यों के आघात में वर्णाक्षर का उच्चारण नहीं होता। केवल मात्रे की व्युत्पत्ति होती है। स्वर में वर्णाक्षरों का उच्चारण केवल मानव मुखदेश से होता है। इसलिये मुख से वर्णाक्षरों के उच्चारण का जो समय है; और उससे जो अर्थ स्पष्ट होता है वही पञ्चगव्य की भाँति पर्यावरण को प्रफुल्लित करता है।

मात्रा की अभिव्यक्ति श्रोताओं का आनन्द व उसकी प्रसन्नता है। शुद्ध मात्रा के प्रयोग से कभी भी कण्ठावरोध उपस्थित नहीं होता। अविद्या की तरह अमात्रिक गायन शैली का कोई फल नहीं बनता; उसकी सारी क्रियात्मकता दाँव, पेंच, तिहाई, निष्फल हो जाती है। निष्कलता से कभी भी चरित्र उज्ज्वल नहीं होता।

शुद्ध मात्रा व स्वरोच्चारण से बुद्धिबल, मनोबल, धर्मबल, स्वाध्याय, चिन्तन, साधन बल, आत्मबल सबका सम्वर्धन होता है।

स्वरम् ब्रह्मेति विज्ञानम् इन्द्रियग्राम संयमः। की परिपुष्टि स्वर ज्ञान से ही सम्भव है अन्यथा अन्य कोई उपाय नहीं है।

त्रितालैः संस्तुवन् विश्वम् परमाप्नोति मंगलम्।
तद्धेतुः सर्व भूतानम् कारणबन्ध मोक्षयोः।।४६।।

अन्वयः– त्रितालैः विश्वम् संस्तुवन् परम् मंगलम् अवाप्नोति। तत् सर्व भूतानाम् कारणम् (अस्ति) (तथा) बन्धमोक्षयोः कारणम्।

भावार्थ– त्रिताल की भूमिकाबद्ध आराधना करने पर अखिल ब्रह्माण्ड की आराधना हो जाती है। और उसके साथ ही परम मंगल की प्राप्ति हो जाती है। अज्ञान मूलक जितने भी प्रकार के बन्धन संसार में हैं वह सबसे मुक्ति दिलाने का कारण है।

टिप्पणी– संगीत साधन क्षेत्र में स्वर, लय, ताल, मात्रा यदि बन्धन का कारण बन गया तो उसका एकमात्र कारण है कि अशास्त्रीय अभ्यास। जब ताल मात्रा और स्वर को उसके प्राकृत स्फुरण को न समझ कर वह विकृत कर दिया गया तो उसी के आश्रित स्वरोच्चारण शास्त्र स्वभाव के विरुद्ध हो गया। शास्त्र का स्वभाव ही भगवान का निर्देश होता है। वैसे संगीत की शास्त्रीयता बन्धन और अज्ञान का कारण है नहीं। इसी प्रकार नृत्य में भी विकृति का समावेश हो गया। जबकि गायन वादन, नृत्य की शास्त्रीयता ही ईश्वर आराधना का मूल श्रोत है। यह व्यावहारिक बात है कि जब हमें किसी लब्ध प्रतिष्ठित प्रतिभावान से मिलना होता है तो प्रार्थना पत्र देकर ही मिलने की अनुमति प्राप्त करते हैं। हठात् मिलना उद्दण्डता और शूद्रता है। इसी प्रकार स्वर साधन में हठता, कर्कशता का आगमन आगन्तुक है। इसीलिये कहा गया है कि–"आगन्तुकानाम् तिरोभावः" अर्थात् आगन्तुक स्वरूप विकृति दोष को

तिरोहित करने वाला संगीत में मात्र स्वर और संयम है। बन्धन बनावट का कारण अज्ञान है। अज्ञान का कोई शास्त्र श्लोक नहीं होता। इस प्रकार अज्ञान का न कोई शास्त्र है न साहित्य दर्शन ही।

टिप्पणी– आराधना व्यक्तिगत गान नहीं। वह समष्टि गान है; क्योंकि उस गान में पृथ्वी, आप्त, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और सबका कृष्ण आत्मा के साक्षित्व व उनकी क्रियाशीलता में से होता है। इस प्रकार से हम सभी साधक वर्ग जानते रहें।

बन्धन का कारण– संपत्ति, अभिमान, विद्या, अविद्या, बुद्धि बन्धन के (अवस्था काल के अनुसार) ये ही कारण भी बन जाते हैं। १. संपत्ति–अर्थात् लक्ष्मी को न समझ पाना कि लक्ष्मी क्या है। २. अभिमान शक्ति–दुर्गा का आगमन धरा पर क्यों हुआ इसको न समझ पाना। ३. विद्या–अर्थात् सरस्वती की भूमिका का ज्ञान न हो पाना। ४. अविद्या– अर्थात् अन्धकार। इस प्रकार अविद्या के प्रभाव में रहने वाली बुद्धि स्त्री, पुरुष को तोड़ने का कार्य करती है। संपत्ति, शक्ति, विद्या, अविद्या, बुद्धि ये सभी स्त्रीवाचक हैं इन्हीं का बहुमत है। पुरुष अकेला है। वैसे पुरुष को इनकी आवश्यकता होती है। परन्तु अविद्याधीन रह कर जो इन शक्तियों की प्राप्ति की चेष्टा करते हैं वे अवश्य ही हिंसात्मक हो जाते हैं। इसमें भ्रम, भय, रोग, मृत्यु, भेदभाव, पक्षपात, का ही बोलबाला रहता है। यह सत्य है। संपत्ति धन लक्ष्मी है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्ति दुर्गा है। विद्या माया सरस्वती है। अविद्या क्लेष, भ्रम, भय है। अस्तु शक्ति का रहस्य व उनकी अनुकूलता की प्राप्ति उनकी प्रार्थना में निहित होता है। इस प्रकार आराधना और स्तुति अर्चना के प्रभाव से कृपा की प्राप्ति स्वाभाविक है। इनकी प्राप्ति के लिये धोखा, हिंसाचार की कोई गति नहीं होती। "सर्वभूतानामेवार्चनम्"–

इस प्रकार सरस्वती नामक शक्ति की प्रार्थना से हम विद्वान हो सकते हैं। दुर्गा से प्रार्थनापूर्वक हम शक्तिमान हो सकते हैं। लक्ष्मी से आराधना पूर्वक संपत्तिवान धनवान हो सकते हैं। बुद्धि की देवी सरस्वती ही हैं इस जानकारी

के आधार पर प्रार्थना पूर्वक हम बुद्धिमान, विद्वान हो सकते हैं। हठात डंडा मारकर इन शक्तियों को काबू में नहीं किया जा सकता है। क्यों इन्हें डंडा नहीं मारा जा सकता। ये शक्तियाँ सूक्ष्मांश रूप से मनुष्य में विकसित प्रकाशित होती हैं। सुनहरे समय को याचक के अधीन कर देती है।

सर्व सृष्टि समष्टिश्च वैराजः कथितो बुधैः।

तज्ज्ञाने विश्वविज्ञानमतो ज्ञेयम् प्रमातृभिः।।४५।।

अन्वयः– च सर्व सृष्टि समष्टिः वुधै वैराजः कथितः। तज्ज्ञाने विश्व ज्ञानम् अतो प्रमातृभिः ज्ञेयम्।

भावार्थ– समष्टि सहित सम्पूर्ण सृष्टियों की ज्ञान गर्भ गुहा में प्रवेश करने वाले प्रकाशित विज्ञान वेत्ताओं ने विराट से ही उत्पन्न बताया है। उसी प्रकार संगीत जगत् में समष्टि स्वरूप त्रिताल उस विराट से ही उत्पन्न हुआ है। अतः इस प्रकार से ही त्रिताल का ज्ञान हो जाने पर स्तुति पूर्वक सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान हो जाता है। अतएव प्रमाताओं को इसका ज्ञान करना चाहिए।

टिप्पणी– जैसा कि बताया गया है कि विराट् का मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, पेट आकाश-वैश्य, पाँव शूद्र। इस प्रकार पाँव न रहे तो कोई चल नहीं सकता। परन्तु पाँव का भी समय पर संस्कार किया जाता है। महावर और उपानह (जूता) पाँव का उपनयन संस्कार है। स्त्रियों के पाँव में जो जेवरात होते हैं वे भी उपनयन संस्कार में ही आते हैं। चरण स्पर्श शूद्र की पूजा है।

वास्तव में जिसे शूद्र कहा जाता है संस्कार न होने के कारण वह शूद्र होता है। इस प्रकार शूद्र का जो मुँह ब्राह्मण है वह स्वर साधन विहीन होने के कारण ब्राह्मण के मुख का देश शुद्ध हो ही नहीं सकता। क्योंकि नौ अच देशों की संशुद्धि शुद्ध स्वर साधन से ही संभव है। अर्थात् शुद्ध स्वर साधन ही ब्राह्मण मुख का शस्त्र प्रमाणित संस्कार है।

गुणाश्च विनिवर्तन्ते तालाभ्यास शालिनः।
प्रकाशानन्द संवित्तिः प्राप्यते पुरुषैः परैः।।४६।।

अन्वयः- तालाभ्यास-शालिनः गुणाः विनिवर्तन्ते पुरुषैः परैः प्रकाशानन्द संवित्तिः प्राप्यते।

भावार्थ-ताल का अभ्यास करने वाले पुरुषों के सभी गुण, कृत, कर्म ज्ञान गर्भ में प्रवेशोपरान्त निवृत हो जाते हैं क्योंकि उन्हें ज्ञान हो जाता है कि व्यष्टि में समष्टि ही स्वयं क्रियारत है और साधन का महत्व भी इसकी प्राप्ति का निमित्त है क्योंकि साधन तभी तक होता भी है जबतक सृष्टि का ज्ञान न हो जाय।

इस प्रकार से प्रकाश और आनन्द की एकता का ज्ञान हो जाने पर सभी प्रकार के भ्रमों का निवारण हो जाता है। समष्टि ही क्रियारत है इसमें स्थित होने पर कर्ताभिमान जनित अन्धकार समाप्त हो जाता है।

संगीत का ज्ञान और कर्ताभिमान एक साथ नहीं रहते, कर्ताभिमानी को संगीत का आनन्द सम्भव नहीं इसलिये कि आनन्द घण्टे आध घण्टे की चीज नहीं। आनन्द का आगमन स्थायी होता है। स्वर, ताल, मात्रा का ज्ञान कुसंस्कारों का छेदन भेदन का निमित्त है।

अर्चना संगीत का धर्म है, गिरगिट की तरह तन कर अर्चना नहीं होती। अर्चना में विनीत भाव है उसमें ऐंठन नहीं है। अर्चना ही ज्ञान और प्रकाश में परिवर्तित हो जाती है। स्वर ताल मात्रा का यही वह प्रभाव है और संगीत की शास्त्रीयता इसी का निमित्त है।

हृदया ज्ञान संग्रंथिः भज्यते तत्प्रकाशकैः।
संशयाश्च निवर्तन्ते छिद्यन्ते कर्म कोटयः।।४७।।

अन्वयः- तत्प्रकाशकैः प्रकाशानन्दग्रंथिः भज्यते, संशयाश्च निवर्तन्ते कर्मकोटयः छिद्यन्ते।

भावार्थ– स्वर, मात्रा, ताल, लय, संबंधी ज्ञान से (हृदयस्थ ग्रन्थियाँ) हृदय में स्थित अज्ञान की ग्रन्थियाँ समाप्त हो जाती हैं। और हर प्रकार के भ्रम, भय, मृत्यु, चिन्ता अचिन्त्य हो जाती है।

अतो तालैः समम् मात्रामभ्यसेच्च पुनः पुनः।
तैर्विनान भवेज्ज्ञानमन्तरानान्तरायिनः।।४८।।

अन्वयः– अतः तालैः समम् पुनः पुनः मात्राम् अभ्यसेत्। तैः विना ज्ञानम् न भवेत् अन्तरायिनः।

भावार्थ– तालों के अभ्यास के साथ मात्रा स्वर ही है। इस प्रकार से बार बार अभ्यास चिन्तन करते रहना चाहिए। बिना इसके ज्ञान सम्भव नहीं। क्योंकि ज्ञान से उद्वेग उग्रता अभिमानादिका दमन् होने के पश्चात उसका शमन हो जाता है। यही गायन वादन में सम का महत्व है। सम ज्ञान में विषमता का कहीं कोई पता नहीं होता। इस लिये पहली मात्रा जो सूर्य सूचक है वह सूर्य सबको सम भाव से अपनी उर्जा व प्रकाश को प्रदान करता है। उसी लक्ष्य पूर्ति और स्मरण के लिये तालों में 'सम' को अवरोपित किया गया है जिसके अधिदेव सूर्य भगवान हैं।

टिप्पणी– साधकों को ध्यान करने से ही संगीत के गूढ़ार्थ का पता लगना स्वाभाविक है। संगीत की साहित्यिक संरचना में अनुप्रवेश से उसका कल्याण सम्भावित है। इस प्रकार आज जो बहुत अच्छा सम्मान सहित गा रहे हैं और बजा रहे हैं उन्हीं को यह भी समझना है कि वे पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हैं। उनमें भेदभाव, पक्षपात, ईर्ष्या, द्वेश, कामवासना, क्रोध जैसे दोष भी क्रिया रत हो अन्तःकरण को आन्दोलित करते रहते हैं। ऐसा उनमें क्यों होता है। किसी संगीतज्ञ में ऐसा होने का तात्पर्य यही होता है कि वे उपासना से युक्त नहीं हुए।

उपासना– उपासना-अर्थात् पास बैठना, किसके पास बैठना। संगीत के स्वरों और मात्राओं की सृष्टि के पास बैठकर उनकी व्युत्पत्ति भूमि को समझना।

व्यष्टावतरणम् तेषाम् जन्म नैव कदपि ह।
तालादिकम् सदा ज्ञेय मतो मुक्ताः सुसाधवः।।४९।।

अन्वयः– तेषाम व्यष्टौ अवतरणम् कदापि जन्म न एव। सदा तालादिकम् ज्ञेयम् अतः सुसाधवः मुक्ताः।

भावार्थ– जन्म किसका-किसका नहीं इसी संदर्भ में यह श्लोक है।

उन त्रितालादि तालों की मात्राओं को स्वर रूप, अक्षर रूप, मात्रा रूप से समझने का अभ्यास इस प्रकार से करना चाहिए कि समष्टि रूप मात्रादिकों का जन्म नहीं होता। उनका व्यष्टि यानि देह में अवतरण होता है। इस प्रकार के चिन्तन व अभ्यास में जो सदा अनुरत रहते हैं, वे सन्त रूप हो मुक्त हो जाते हैं। वास्तव में समाधान ही संगीत का दर्शन साहित्य है। संगीत साहित्य भूमि में प्रवेश हो जाने के बाद सबकुछ साधन, भजन, चिन्तन प्राकृत रूप है। इसमें यह भी पता चलता है कि कुसंस्कार ही शूद्र हैं। कुसंस्कार का ही जन्म होता है। जिसका जन्म होता है उसी का अवसान व मृत्यु भी होती है। कुसंस्कार ही शूद्र होता है। शूद्र का कोई गुरू नहीं होता। इसलिये कुसंस्कारियों को गुरू की आवश्यकता पड़ती है।

इस प्रकार कुसंस्कार रूप शूद्र के दमन के लिये स्वरार्चन को गुरू रूप से मान कर अर्चना करने से कुपाच्य, दुष्पाच्य, कुपेय, अभक्षादि से वह कुसंस्कारी पृथक होने लगता है। और उस कुसंस्कारी में स्वर मन्त्र के जप प्रभाव का प्रकाश उसमें विकसित होने लगता है और कुसंस्कारी की देह निर्मल व शुद्ध हो जाती है। स्वर मात्रा ताल का यही वह प्रभाव है जो अभक्षादि से पृथक कर देता है। और वह स्वरवेत्ता होकर सुसंस्कृत हो जाता है।

अमृत द्रवसंयुक्ता सदा मूल सजीवनी।
मृतकम् मूर्छितम् गात्रम् प्राणवत्कर्तुमर्हति।।५०।।

अन्वयः– मूल सजीवनी सदा अमृत द्रव संयुक्ता मृतकम् मूर्छितम् गात्रम् प्राणवत्कर्तुमर्हति।

भावार्थ– मूल सजीवनी महा औषधि है, वह अमृत द्रव से संयुक्त है जिसके कारण मृतक मूर्छित देह को पुनः प्राणवान कर देती है।

टिप्पणी– मूर्छित और मृतक देह में मूल सजीवनी इसका प्रयोग इच्छा शक्ति सूचक है। इसकी पहचान और प्रयोग विद्वान वैद्य ही करते हैं जिसकी पहचान और प्रयोग के लिये सुखेन 'वैद्य' ही अग्रगणीय माने गये हैं। संजीवनी बूटी का स्थान भी धवलागिरी नामक हिमालय का एक खण्ड माना गया है। सुखेन वैद्य को रावण ने बन्दी बना रखा था सुखेन वैद्य का अवतरण भी लक्ष्मण को लगी शक्ति का निमित्त था। क्योंकि संजीवनी बूटी का उपयोग लक्ष्मण के लिये वही कर सकते थे। अन्य कोई इसके लिये उपयुक्त न था।

इसके अतिरिक्त श्री लंका और हिमालय की दूरी को द्रुत गति से तय करने वाले महाबली हनुमान जी का अवतरण भी संजीवनी को प्राप्त करने का निमित्त था। यह कार्य अन्य कोई कर भी नहीं सकता था। जिसे हनुमान जी कर सकते थे।

दर्शन में किसी प्रकार की गाथा को जो उद्धृत किया जाता है वह समझने व समझाने का ज्वलंत प्रमाण मात्र है। इस यत्न को ही गाथिक प्रसंग कहते हैं। गाथिक गद्य व पद्य दो रूप से जाना जाता है जिसमें पद्य सस्वर मात्रिक है उसका अर्थ गद्य रूप का होता है। अर्थ स्वतंत्र अमात्रिक होता है। और पद्य सस्वर मांत्रिक होता है।

इस प्रकार जिस श्लोक का अर्थ लिखा गया वह गद्य रूप है। और श्लोक पद्य आर्चिक स्वरूप मात्रिक है। मात्रा का संबंध संगीत से है और मात्रा स्वयं ही स्वर है।

निनाद सहितम् स्रावम् झिल्लयाम् संतनुतेमुदा।
अगर्भ सृष्टिमूलत्वात्सर्वेभ्यो व्यतिरिच्यते।।५१।।

अन्वयः– झिल्लयाम् निनाद सहितम् स्रावम् मुदा सन्तनुते। अगर्भ सृष्टि मूलत्वात् सर्वेभ्यः व्यतिरिच्यते।

भावार्थ- कीट भृंगी झिल्ली में निनाद के सहित अपने दंश से अमृत रस का स्राव प्रसन्नता पूर्वक करती है। अगर्भ सृष्टि का मूल होने के कारण वह सबसे बढ़कर है अर्थात् ब्राह्मी सृष्टि से कीट भृंगी की सृष्टि पृथक् ही प्रतीत होती है।

व्याख्या- कीट भृंगी झिल्ली (झेंगुर) की देह में अमृतनाद के सहित स्वयं अपने दंश से निर्माण करने वाले उस रस का स्राव प्रसन्नता पूर्वक करती है। जो कायाकल्प करने में सक्षम और आश्चर्य स्वरूप रस उसी में बनता रहता है। उसका निनाद और वह अद्‌भुत रस अगर्भ सृष्टि का मूल होने के कारण सृष्टि में उसी कीट भृंगी को ही प्राप्त है जो सबसे विशेष और बढ़ चढ़ कर है। अर्थात् कीट भृंगी की इस प्रकार की सृष्टि ब्राह्मी (ब्रह्मा की) सृष्टि से पृथक और उससे भी विलक्षण है। इस श्लोक संरचना से यह सिद्ध हो जाता है कि कीट भृंगी स्वयं एक ब्रह्मा अलग से है।

टिप्पणी- संगीत स्वर शास्त्र में इस संदर्भ का क्या प्रयोजन है। अब इसी को बतलाते हैं। संजीवनी एक प्रकार की औषधि है जो मृतक और मूर्छित देह को पुनः प्राणवान और सजीव कर देती है परन्तु वह संस्कार कोषिका को नहीं बदल सकती- जैसे कि लक्ष्मण जी का जो स्वरूप, भाव, विचार, कर्त्तव्य पहले था वही पूर्व की बात प्राणवान होने पर भी रही। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मूल संजीवनी औषधि का महत्व एवं उसकी वैज्ञानिकता केवल लक्ष्मण जैसे शेषावतार में प्रकाशित हो कर रह गई। इसके पश्चात् उसका और कहीं उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन कीट भृंगी में निनाद के सहित उसके दंश से जो अमृत औषधि झिल्ली में प्रयुक्त होता है उसमें नाद शक्ति और रसामृत दोनों की सृष्टि तो वह करती ही है उसके संस्कार कोषिका को भी परिवर्तित कर देती है। संगीत शास्त्र के अन्तर्गत श्लोक दर्शाने का यही अभिप्राय है कि कीट भृंगी सस्वर नाद गुञ्जन के साथ झिल्ली में उस अमृत स्वरूप रसौषधि का प्रयोग करती है। और झिल्ली को संस्कार सहित कीट भृंगी का रूप प्रदान कर देती है। इस प्रकार संगीत के स्वरों की वैज्ञानिकता एवम् उसके अद्वितीय ज्ञान की गहराई का कोई अन्त नहीं है। यह ज्ञान दर्शन और प्रयोग संगीत ज्ञान चिन्तन के साथ 'प्रजननद्धेतुः' अविद्या में आने वाले उन कुसंस्कारों को समाप्त करने में सक्षम है, जो कि संगीत के स्वाध्यायियों

में कुसंगति से प्रवेश करता है। ये सभी प्रकार के दोष कुसंस्कार आगन्तुक हैं। आगंतुक ही तिरोहित होते हैं। अविद्या नामक स्थूल-प्रत्यक्ष कार्यकर्त्री का प्रसाद कभी भी तिरोहित नहीं होता। अविद्या और विद्या में अविद्या सगुणात्मक प्रत्यक्ष माया है। और विद्या का कार्य गुप्त निर्लिप्त होता है जो अवस्था कालानुसार दुष्ट-कुसंस्कारियों के दमन और संहार के लिये रण चण्डी का रूप धारण करके इस धरा के सहित सम्पूर्ण जनमानस और पर्यावरण को प्रफुल्लित करती है। इस प्रकार से शक्ति का अवतार जो होता है वह प्रकृति ही होती है। इस प्रकार प्रकृति ही स्वर स्वरूपा शक्ति है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, आप्त, अग्नि, वायु, आकाश सभी अध्यस्थ हो क्रियाशील हैं। इसी ज्ञान प्राप्ति के लिये संगीत साहित्य की अभिरुचि एवम् श्रद्धा 'भवसागर' से पार करने वाली निर्विघ्न नौका के समान है। जिसके अवतरण व तप स्वाध्याय अर्चना के माध्यम सस्वर शब्द है। सस्वर शब्द ही संगीत है। और संगीत के स्वरों में पूरी सृष्टि समाहित है।

अविद्या में 'अ' ज्ञान के लिये है। अ कण्ठ देशीय अवश्य है परन्तु यह ज्ञान का विषय है। अस्तु विद्या में अध्यस्थ 'अ' ही अक्षराणामकरः है। अर्थात् 'अ' कृष्णरूप है जो अन्धकार का कर्षण करके ज़ीवन को प्रकाशित करता है। कृष्णाकार ही अविद्या का हेतु है। अर्थात् अविद्या निरोध का तात्पर्य व अविद्या में निर्लिप्त ज्ञान ही अविद्या का निरोध है।

पूर्वसंस्कारमादाय त्यजते प्राक्तनम् वपुः।
जवार्यासञ्च झङ्कारम् झिल्ली संस्कारम् विदुः।।५२।।

अनाहत तत्त्व व विज्ञान स्वरूप अनाहत उपदेश में ऋषि महर्षि हैं। सगुण कृति प्रकृति इस धरा पर दुष्टों के दमन व उपदेश रूप में 'अवतरित होती है।" कृष्णरूपनाहतम्– गुण दोष के आधार पर स्वरों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सृष्टि के योग का ध्यान करते हुए आप सभी सज्जन वृन्द का ध्यान कराया कि स्वरों की अभिव्यक्ति में पृथ्वी, आप्त, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, औषधि, अन्न, और रस सबका स्वरों की अभिव्यक्ति में योग है अर्थात् स्वराभिव्यक्ति पूर्ण सृष्टि रूप ही है इस प्रकार से चिन्तन-साधन करने वाले का अवश्य ही कल्याण होता है।

इस प्रकार स्वराभिव्यक्ति आहत रूप कला है जो संगीत आहत रूप से अभिव्यक्त हो रहा है वह "कृष्णरूपमनाहतम्" की कला है और स्वयमनाहत निष्कल है, क्योंकि अनाहत अपने में पूर्ण है। स्वयं की उसकी अपनी उत्पत्ति सृष्टि नहीं होती बिना पृथ्वी, आप्त, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र के योग से वह अनाहत अभिव्यक्त होता है। परन्तु तत्त्वरूप में अनाहत अस्पर्श योग है यानि उसका स्पर्श हाथ व पूरी शरीर से नहीं होता। अर्थ यह बनता है कि वह चक्षु को अवश्य ही दिखाई पड़ता है वह अनाहत तत्त्व है परन्तु अनाहत की प्रकृति जो सबका सम्वर्धन अव्यक्ति रूप से करती है शब्द स्वरों की अभिव्यक्ति की तरह वह दिखाई नहीं पड़ती लेकिन जब वह कभी दिखाई पड़ी है तो सगुण रूप से दुर्गा, महाकाली, रणचण्डी रूप में।

प्रकृति का क्रिया कलाप संवर्धन विकास चाहे मनुष्य की बाल्यावस्था हो या वृक्षादि से लेकर अन्न का अंकुरण हो इनमें प्रकृति बिना मुद्रा प्रदर्शन के अनाहत रूप से अपना विकास व अवसान रूप कार्य करती रहती है इस प्रकार के क्रिया कलाप में प्रकृति भी अनाहत रूप ही है इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अनाहत ही सबका अपना मूल है। जैसे प्रकृति जब विकास कार्य करती है तो वह उसे न रोका जा सकता है न देखा ही जा सकता है अस्तु इस प्रकार विकास कार्य करने वाली अनाहत प्रकृति को जो दुष्टता वश रोकने का कार्य करती है तभी वह सगुण रूप धारण करके दुर्गा रूप से प्रकट-अवतरित होकर उस दुष्ट का दमन करके सृष्टि में एक इतिहास का रूप देती है ताकि भविष्य में ऐसा कोई दुस्साहस न करे।

अवतरित- अर्थात् अवरोह - अनाहत प्रकृति का अवरोह ही सगुण शरीर अवतार है और आरोह अनदेखा रूप उसका विकास कार्य है।

इस प्रकार अनाहत का दो रूप होता है। एक प्रकृतिस्थ और दूसरा तत्त्व पुरुष रूप। प्रकृतिस्थ में सगुण रूप दुर्गादि का है तत्त्वतः पुरुष का राम, कृष्णादि, नरसिंह रूप इत्यादि।



परिशिष्ट

चलचित्र जगत में भीष्म पितामह श्रेष्ठ मुकेश खन्ना को विश्वमञ्च पुरस्कार



प्रकृतिस्थ व्याख्या-

प्राकृत- जन्मजा वाकोच्चारण में सस्वरित ध्वनि का अभिगुञ्जन रसभाव की आकर्षक एकता के साथ चलचित्र जगत के बहुचर्चित कलाकार एवम् अध्यात्मनिष्ठ श्री मुकेश खन्ना को प्राप्त है। जिस अभिव्यक्ति में प्राकृत गठन व अभ्यास निष्ठा की एकता का श्रोतव्य दर्शन सहज रूप में परिलक्षित होता है। अभिगुञ्जित होने वाले काकु प्रयोगों में श्रोतव्य कणमुरक मीड़ के प्रभाव अवरुद्ध कण्ठ जगंत को सहज बनाने के लिये प्रेरणादायक हैं। जिसका कण्ठ जगत में अवरोपण का समय कम से कम ६० वर्ष में घनघोर तपस्या के साथ ही सम्भावित है। जो भीष्म पितामह श्रेष्ठ श्री मुकेश खन्ना को यह प्राकृत पुरस्कार जन्मजा रूप से प्राप्त हो चुका है। इस प्रकार से किसकी

वैखरी देश अवरुद्ध है, किसकी क्षतिग्रस्त है, और किसकी सहज सर्वांगीण स्वस्थ है, इसकी व्याख्या स्वयं ही प्रकृति ईश्वरीय प्रेरणा से किसी अडिग संशय रहित सुयोग्य ब्रह्मविद् से करा देती है।

अस्तु व्याख्या सहित पुरस्कृत करना कोई अनुमानित कार्य नहीं होता। जन्मजा बैठक प्रकृति स्वयं ही करती है। उसमें अभ्यास आंशिक होता है। जन्मजा गठन में नवदेशीय रचना स्वाभाविक होती है। जो किसी बिरले को प्राप्त होती है। नवदेशीय सस्वर उच्चारण की प्रधानता में नाभिबल की प्रमुखता होती है। नाभिबल को ही परादेश कहा गया है। इस प्रकार जहाँ पर परा, पश्यन्ती, मध्यमा का मार्ग प्रशस्त होता है वहीं पर षडांग देशीय वैखरी का संतुलन सहजता के साथ समुचित अधिभारों से प्रवाहित होता है। सस्वर वर्णोच्चारण के बिखरने के देश को ही वैखरी कहते हैं, जो षड्ज देशीय है।

कण्ठ, दन्तोष्ठ, तालु, मूर्धा, और नासिका को ही मुख देशीय षडांग अर्थात् इसी को षड्ज देश कहते हैं। जिसका विस्तार मन्द्र, मध्य तारण देशीय तार सप्तक नाम से जाना जाता है। इस प्रकार नवदेशीय काकुजन्य उच्चारण की विविध भव्यता की भीड़ (लोच) की प्राप्ति नवयुवक मुकेश खन्ना जी को वृद्धापन तक की अभिव्यक्ति कराने में सहज और सक्षम हैं। नवदेशीय बैठक ही सस्वर वाक्शास्त्र की रीढ़ होती है। इस प्रकार बालापन, नवयुवक एवम वृद्धापन का उद्घोष स्वरित कुल में व्याकरण की देन से होती है। इसी को जन्मजा कहते हैं। जिसकी व्याख्या तपजा करते हैं। शुद्ध स्वर साधन का अनवरत अभ्यास ही स्वर, वर्ण, शब्द, नाद की सर्वदेशीय एकेश्वर का ज्ञान कराने वाला मूल मन्त्र होता है। इस प्रकार साहित्य, काव्य, और संगीत जगत् से लेकर सस्वर वाक्शास्त्र जो योगिगम्य है सदा ही उसकी व्याख्या तपजा करते आये हैं। इस प्रकार से व्याख्याबद्ध सस्वर साधन कम से कम ६० वर्ष में पकता है। कहीं कहीं वह ६५ वर्ष भी ले लेता है। यही तपजा जन्मजा को अच्छी तरह से पहचान कर सदा ही पुरस्कृत करते आये हैं।

कामादिदोष निवृत्यर्थभमिनिवेशः एनमेव क्लेशम् योगी सहजम् करोति। वीर्यवान् तेजस्विता की अभिसूचना का प्रमुख श्रोत वाक्शास्त्र होता है। इस प्रकार कामादिदोषों की निरुद्धता अभिनय जगत में किसी पुत्री के आंसू पोंछने से सिद्ध हो जाता है। जिसमें पुत्रित्व भाव का संशपर्श मात्रित्व कक्षा को सूचित

करता है। यहाँ पर आगन्तुक कामादिदोष नहीं रह जाता क्योंकि वीर्यवान की अष्ट धातुओं की संशुद्धि में काम की कोई उत्तेजना नहीं रह जाती। इस प्रकार से काम के निष्कासन के कारण सृष्टि ब्रह्म रूप से द्रष्टव्य और अवभाषित होती है। जैसे-

यदा न लियते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्ग न मनाभासं निष्पन्नम् ब्रह्म तत्तदा।।

यह श्लोक केवल उदाहरणार्थ स्वरूप है।

पुरस्कृत मुकेश खन्ना सर्वश्रेष्ठ और जन्मजा सिद्ध हैं। इसी कारण से प्रमुख अभिनेता से पृथक रहने में ही वे ज्येष्ठ प्रभावकारी सिद्ध होते रहे हैं। जो काम वासना में ईश्वर को ही देखने का अभ्यास करता हो वह ब्रह्मरूप से सृष्टि में क्लेश मुक्त और प्रसन्न ही रहता है।

आवाज की प्राकृत विविधता का अवतरण

व्हायलूम- श्री मुकेश खन्ना के सस्वर काकोच्चारण में प्राकृत गठन जन्मजा है। जन्मजा जैसी प्राप्ति ही साधक का परम लक्ष्य है। जिसके उच्चारण में प्रमुख आकर्षण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रों का संतुलन स्वाभाविक ही है। इस प्रकार प्राकृत संतुलन में पृथ्वी जल का अधिभार अभिव्यक्ति में २५ प्रतिशत् एवम् अग्नि वायु तत्त्व का योग ७५ प्रतिशत तथा सूर्य का रेचकत्व बल व उसका धर्म चन्द्रमा के कुम्भकत्व बल में शुद्धत्व बल के साथ ग्रह नक्षत्रों की अनुकूलता का योग सदा ही प्रसादित करता रहता है। बाह्याभ्यन्तर से लेकर सम्पूर्ण देह को चन्द्रमा हर प्रकार के प्रदूषणों को शुद्ध करता रहता है। यही कारण है कि व्यक्तिगत साक्षात्कार से लेकर अभिनय जगत में भीष्म पितामह श्रेष्ठ मुकेश खन्ना चरित्रवान और विश्व में महान अध्यात्म निष्ठ कलाकार प्रकृति सम्पाद्य विभूति ऐश्वर्य हैं। जिन्हें विविध पुरस्कारों के साथ पुरस्कृत किया गया है।

व्याख्याता पुरस्कृतकर्त्ता स्वयं
आर्चिक दर्शन शास्त्र
रचनाकार



४४ पृष्ट की शेष साधन सामग्री।

मीड़ प्रकरण

अवरोही मीड़ बल

आरोह- गसा मरे पग धम नीप सांध
सांप नीम धग परे मसा

आरोही मीड़ बल

अवरोही- साम रेप गध मनी पसां
अवरोही- साम नीग धरे पसा

आरोही गमक बल

आरोह- साग रेम गप मध पनी धसा निसां
सा रे ग म प ध नी सां
अवरोह- सांध नीप धम पग मरे गसा ऩीसा
सां नी ध प म ग रे सा

अवरोही गमक बल

आरोही- रेसा गरे मग पम धप नीध सांनी रेंसा
सा रे ग म प ध नी सां
अवरोह- रेंनी सांध नीप धम पग मरे गसा
आरोह- सां नी ध प म ग रे सा

छूट प्रकरण बल

सा ग प नी रें ।
रें नी प रेग प सा ॥
सा म ध नी रें नी प स ।

ललक

गरेसा मगेरे मपग धपम नीधप सांनीध
धनीसां पधनी मपध गमप रेगम सारेग ऩिसारे धऩीसा
सारेगमपधनीसां- सांनी धपमगरेसा
सारेगमपधनीसां- सांनी धपमगरेसा
सारेगमपधनीसां- सांनी धपमगरेसा
सारेगमपधनीसां- सांनी धपमगरेसा
सारेगमपधनीसां- सांनी धपमगरेसा

समाप्त

